भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥' (६३, ६५-६६, ६८) भगवान् दुर्वासाजीसे कहते हैं कि मैं परतन्त्रके समान भक्तोंके अधीन हूँ। उन्होंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। जो स्त्री, पुत्रादिको छोड़कर मेरी शरणमें आते हैं, जिन्होंने अपने हृदयको मुझमें लगा दिया है वे मुझे उसी तरह अधीन कर लेते हैं जैसे साध्वी स्त्री अपने साधुपतिको वशमें कर लेती है। ऐसे भक्त साक्षात् मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, क्योंकि वे मेरे सिवा किसी वस्तुको प्रिय नहीं समझते। (भा० ९। ४) जोरावर भक्तसे जोर नहीं चलता। बलिसे कुछ न चली तब भीख ही माँगनी पड़ी। वैसे ही किसी प्रकार शिवजीने स्वीकार न किया तो लाचार हो भीख माँगी। इसी भावसे यहाँ *'बिनती'* और *'माँगे देहु'* कहा। जय! जय !! जय!!!

कह शिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ १॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ २॥

अर्थ—शिवजी बोले कि यद्यपि ऐसा उचित नहीं है तथापि स्वामीके वचन भी मेटे नहीं जा सकते॥ १॥ हे नाथ! हमलोगोंका तो परमधर्म यही है कि आपकी आज्ञा सिरपर रखकर करें॥ २॥

'कह शिव जदपि उचित अस नाहीं' इति।

'अस' किस वाक्यका संकेत कर रहा है, इसमें मतभेद है।

(१) पंजाबीजीका मत है कि 'त्यागकर पुनः अङ्गीकार करना और फिर बारात ले जाकर विवाह करना हम अवधूतोंको उचित नहीं है।' बैजनाथजी लिखते हैं—'बन्धनसे छूटकर पुनः बन्धनमें पड़ना उचित नहीं है। सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि—*'जाइ बिबाहहु'* यह जो कहा यह उचित नहीं है। क्योंकि जब कन्याके माता-पिता किसीको अगुआ करके वरपक्षमें आकर विनय करते हैं तब गणना करके कुण्डली मिलाकर विवाह ठीक होता है।' पं० सू० प्र० मिश्र कहते हैं कि प्राणिमात्रको अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी उचित नहीं और मैं तो अवधूत हूँ, मेरा ब्याहसे अब क्या सम्बन्ध है? दूसरे इसीने तो सीतारूप धारण किया था इससे उसके साथ विवाह करना उचित नहीं, पर साथ ही आपकी आज्ञा न माननी भी उचित नहीं। ऐसे दुविधाके विचारोंमें महादेवजी पड़ गये और 'यही रीति भी है कि बिना दो बातोंके सिद्धान्त भी नहीं होता। अतएव शिवजीने यही सिद्धान्त किया जो अगली चौपाईमें है।'

मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'यह बात प्रतिकूल पायी जाती है। क्योंकि शिवजीने यही प्रतिज्ञा की थी कि *'एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं'* और उस तनके छूटनेके लिये इतना सब उपाय हुआ तब अब (पार्वतीजीको ग्रहण करनेको) क्यों अनुचित कहते? दूसरे यह कि यदि यह वास्तवमें अनुचित होता तो रघुनाथजी उनसे यह बात क्यों माँगते? और जब उन्होंने माँगा तो शंकरजी उसे अनुचित न कहते। (पाँ०) वीरकविजी लिखते हैं कि—'बहुत लोग यह अर्थ करते हैं कि शिवजीने कहा—'हे नाथ! यद्यपि पार्वतीके साथ विवाह करना उचित नहीं है, फिर भी आपकी बात मेटी नहीं जा सकती; अर्थात् आपके कहनेपर लाचार होकर मुझे ब्याह करना पड़ेगा।' पर यह अर्थ नहीं, अनर्थ है। इस अर्थसे और नीचेकी चौपाइयोंसे बिलकुल विरोध है। शिवजी यहाँ सेवक-भावसे कहते हैं 'आप स्वामी हैं और मैं दास हूँ।' सेवकसे स्वामी विनय करे,यह कदापि उचित नहीं है। स्वामीको आज्ञा करनी चाहिये और सेवकका परम धर्म उसका पालन करना है—*'उचित कि अनुचित कियें बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'* (२। १७७) स्वामीकी आज्ञाको शिवजी कभी अनुचित नहीं कह सकते।'

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि—'यदि यह कहा जाय कि विवाह करके फिर बन्धनमें पड़ना उचित नहीं तो यह बात ऊपरके कथनसे विरोध पाती है कि *'भगत बिरह दुख दुखित सुजाना'* अर्थात्

वे भक्तोंके बिछोहसे यदि दु:खी हैं तो उनको अङ्गीकार क्यों न करेंगे? क्योंकि कहा गया है कि *'भक्त बिरह कातर करुणालय डोलत पाछे लागे। सूरदास ऐसे प्रभुको कत दीजत पीठ अभागे॥'*

(२) पाँड़ेजी, वीरकवि, विनायकी टीकाकार इत्यादिका मत है कि, शिवजी कहते हैं कि आप हमारे स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। आपने जो ये वचन कहे कि—*'बिनती मम सुनहु'* और *'मोहि माँगें देहु'* ऐसे वचन स्वामीको सेवकसे कहना उचित नहीं। स्वामीका विनय करना कैसा? उन्हें तो आज्ञा देनी चाहिये और सेवकका तो यह परम धर्म है कि स्वामीकी आज्ञा बिना सोचे-विचारे मानकर उसका पालन करे। आप आज्ञा देते तो मैं उसका पालन कैसे न करता? विनती तो उससे की जाय जो वचन न माने, वा जो अपनेसे बड़ा हो, न कि सेवकसे। इसी भावको आगे पुष्ट करते हैं कि लोकमर्यादा भी यही है कि माता, पिता, गुरु और स्वामीकी वाणीका पालन करना पुत्र, शिष्य और सेवकका धर्म है। इनको यह अधिकार नहीं है कि ये पहले विचार करें कि वचन मानने योग्य हैं या नहीं, तब करें या न करें। प्रभुकी आज्ञा आदरपूर्वक पालन करना सेवकका परम धर्म है; यथा—*'गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥'* (२। १७७) हमारे तो माता, पिता, गुरु, स्वामी और हित सब आप ही हैं, लोक-परलोक दोनोंके बनानेवाले आप ही हैं। तब भला हमारा यह धर्म हो सकता है कि ऐसे परम हितैषी प्रभुके वचन हम टाल देते? आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। पुन: *'मेटि न जाहीं'* का भाव कि औरोंकी आज्ञा मेटी जा सकती है पर *'प्रभु अज्ञा अपेल श्रुति गाई',* अत: मैं उसे शिरोधार्य करता हूँ।

नोट—१ पंजाबीजी आदिके मतका सारांश यह है कि—शिवजी सोचते हैं कि सतीजीने सीतारूप धारण किया, यह पार्वती वही सती तो हैं, तब इनको पत्नी बनाना मेरे लिये उचित नहीं। यदि कहो कि जिस शरीरसे अपराध हुआ वह शरीर तो अब रह ही नहीं गया तो उसपर उनका सिद्धान्त यह है कि—**'मन:कृतं कृतं राम न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता॥'** अर्थात् मनसे जो किया जाय वही किया हुआ समझा जाता है, क्योंकि आलिङ्गन तो स्त्री और लड़की दोनोंसे होता है पर मनके भावमें अन्तर है। अतएव ब्याह करना उचित नहीं। पुन:, जैसे पाप-पुण्य जिस शरीरसे होता है वह तो यहीं रह जाता है, फिर भी उसका सुख-दु:ख तो जीवको दूसरे शरीरमें भोगना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वह पाप जीवात्मासे सम्बद्ध है, न कि उसी शरीरमात्रसे। अत: दूसरा शरीर धारण करनेपर भी वह पाप-पुण्य साथ रहता ही है। इतना ही नहीं वरंच पुण्य-पाप ही दूसरे शरीरके कारण होते हैं। इस विचारसे पार्वतीतनमें भी प्रेम करना उचित न होगा। *'अस'* पिछले पूरे वाक्यको सूचित करता है। यद्यपि और तथापिका सम्बन्ध है, इससे उन लोगोंके अनुसार चौपाईका भाव यह है कि यद्यपि उनको ग्रहण करना मेरे लिये उचित नहीं है तथापि आपकी आज्ञा यही है तो मैं बिना किसी विचारके उसे अवश्य धारण करूँगा। दूसरे अर्थमें *'जदपि'* का तात्पर्य एवं सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता।

पाँड़ेजी आदिके मतका सारांश यह है कि—सेवक-स्वामिभावमें 'उचित-अनुचित' का विचार नहीं हो सकता, आज्ञा पालन करना ही विधि है, स्वामीकी आज्ञाको अनुचित कैसे कहेंगे जब कि स्वयं वे आगे कह रहे हैं कि *'बिनहि बिचार करिअ'* यही धर्म है। अतएव *'अस'* पूर्व वाक्यके केवल *'बिनती मम सुनहु'* और *'मोहि माँगे देहु'* इन वाक्योंको सूचित करता है। अर्थात् 'विनती करना और माँगे देहु' ऐसा कहना उचित नहीं, पर आप स्वामी हैं, आप जैसा चाहें वैसा कहें, जो भी कहें सो अमिट है। रह गया विवाहकी आज्ञा, सो उसके विषयमें आगे कहते हैं—*'सिर धरि आयसु करिअ……'* अर्थात् वह तो शिरोधार्य है।

नोट—२ *'सिर धरि आयसु……'* इति। सेवक होकर अपने लिये *'हमारा'* बहुवचन क्यों कहा? यहाँ सिद्धान्त कह रहे हैं; अत: *'हमारा'* कहा। अर्थात् मेरा ही यह धर्म नहीं है किन्तु सभी भक्तोंका, भक्तमात्रका, हम सब लोगोंका सेवक-धर्म यही है। यद्यपि और भक्तोंका नामोल्लेख यहाँ नहीं है तथापि शंकरजी तो

वैष्णवोंमें शिरोमणि हैं, यथा—'**नदीनां च यथा गङ्गा वैष्णवानामहं यथा। देवानां च यथा विष्णुर्वेदानां प्रणवस्तथा॥**' (ब्रह्माण्डपु०) केवल उन्हींके नामसे सबका ग्रहण हो सकता है। इसीसे उन्होंने '*हमारा*' कहा। (पं० सू० प्र० मिश्र) विशेषभाव ऊपर आ चुके हैं। '*परम धरमु*' का भाव कि अपने प्रणपर स्थिर रहना धर्म है पर स्वामीकी आज्ञा मानना परम धर्म है।

मातु पिता गुर* प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी॥३॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥४॥

अर्थ—माता, पिता, गुरु और स्वामीकी बात बिना ही विचारे शुभ जानकर करनी (मान लेनी) चाहिये॥३॥ (और) आप (तो) सब प्रकारसे परम हितकारी हैं। हे नाथ! आपकी आज्ञा हमारे सिरपर है। (मैं उसे शिरोधार्य करता हूँ)॥४॥

नोट—१ '*मातु पिता*......' इति। (क) बचपनमें माताकी आज्ञा, कुछ बड़े होनेपर घरसे बाहर निकलनेपर पिताकी आज्ञा, पाँच वर्ष बाद गुरुसे पढ़नेपर गुरुकी आज्ञा और पढ़-लिखकर लोक-परलोक दोनोंमें सुख होनेके लिये जीवनपर्यन्त प्रभु-(अपने स्वामी-) की आज्ञा माननेसे प्राणीका भला होता है। (मा० प०) महाभारत शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि दस श्रोत्रियोंसे बढ़कर आचार्य हैं। दस आचार्योंसे बड़ा उपाध्याय (विद्यागुरु) है। दस उपाध्यायोंसे अधिक महत्त्व रखता है पिता और दस पिताओंसे अधिक गौरव है माताका। परंतु मेरा विश्वास है कि गुरुका दर्जा माता-पितासे भी बढ़कर है। माता-पिता तो केवल इस शरीरको जन्म देते हैं, किंतु आत्मतत्त्वका उपदेश देनेवाले आचार्यद्वारा जो जन्म होता है वह दिव्य है, अजर-अमर है। मनुष्य जिस कर्मसे पिताको प्रसन्न करता है, उसके द्वारा ब्रह्मा भी प्रसन्न होते हैं तथा जिस बर्तावसे वह माताको प्रसन्न कर लेता है उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न होती है। इसलिये गुरु माता-पितासे भी बढ़कर पूज्य है। गुरुओंकी पूजासे देवता, ऋषि और पितरोंकी भी प्रसन्नता होती है, इसलिये गुरु परम पूजनीय है। माता, पिता और गुरु कभी भी अपमानके योग्य नहीं। उनके किसी भी कार्यकी निन्दा न करनी चाहिये।' पुनः माता, पिता और गुरु सदा अपने पुत्र या शिष्यका कल्याण ही चाहेंगे, वे कभी बुरा न चाहेंगे। अतः '*बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी*' कहा।

नोट—२ (क) '*बिनहि बिचार करिअ*......' इति। भाव कि विचारका खयाल मनमें आनेसे भारी पाप लगता है; यथा '*उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥*' (२।१७७) (ख) '*सुभ जानी*' का भाव कि अनुचित भी यदि हो तो भी आज्ञा पालन करनेवालेका मङ्गल ही होगा, उसे कोई दोष नहीं देगा। अतः उसे मङ्गलकारक जानकर करना चाहिये। यथा '*गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥*' (२।३१५) '*परसुराम पितु अग्या राखी*' से '*अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के*......' तक (२। १७४) (ग) '*तुम्ह सब भाँति परम हितकारी*' इति। अर्थात् माता-पिता आदि सब आप ही हैं, आपने सब प्रकार हमारा हित किया और कर रहे हैं; यथा—'*राम हैं मातु पिता सुतु बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौंहैं भरोसो है राम को राम-रँगी-रुचि राचौं न केही।*....' (क० ३०) '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।......त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥**'—सब भाँति हमारा परम हित किया है जैसे कि—भस्मासुरसे रक्षा की, कालकूटको अमृत कर दिया; यथा'*नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥*' गुरुरूपसे आपने षडक्षर ब्रह्मतारक राममन्त्रका जप बताया, अपनी उपासना बतायी, सतीजीने सीतारूप धारण किया तब आपने ही मन्त्र बताया कि क्या करना चाहिये; यथा '*सुमिरत रामु हृदय अस आवा।*' (१। ५७) इत्यादि। पुनः भाव कि आप हमारे माता-पिता आदि सब कुछ हैं, अतः आप '*यह मोहि माँगे देहु*' क्यों कहते हैं? (घ)☞ इस चौपाईमें पुत्र, शिष्य और सेवकके धर्म उपदेश किये गये हैं। बालकोंको श्रीशङ्करजीकी शिक्षापर ध्यान देना चाहिये।

* प्रभु गुरु—१७२१, १७६२, छ०। गुर प्रभु—१६६१, १७०४, को० रा०।

नोट—३ *'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी'* इति। (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं', 'परम धरमु यह नाथ हमारा'* और *'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी'*—यहाँ शिवजीने रामजीको *'नाथ'* कहा है। 'नाथ बन्धने' से 'नाथते असौ नाथः' अर्थात् जो नाथ ले (अपने अधीन कर जैसा चाहे करे) वह नाथ है। पूर्व भी शिवजीने *'बहुरि राममायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूठ कहावा॥'* यह कहा था और यहाँ *'नाथ'* कहकर जनाया कि पहले तो आपने उनसे वियोग कराके चारों ओर भ्रमाया और फिर संसारकी मायामें नाथते हैं। इसलिये आप सचमुच बड़े भारी नाथनेवाले नाथ हैं।' (मा० प०) (ख) पूर्व जो कहा था कि *'सिर धरि आयसु……'* इत्यादि वह सिद्धान्तमात्र कहा था। वहाँ यह न कहा था कि मैं भी आज्ञाका पालन करूँगा। यह बात यहाँ कह रहे हैं।

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना। भक्ति बिबेक धर्मजुत रचना॥५॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ॥६॥

अर्थ—शङ्करजीकी भक्ति, विवेक और धर्मसे युक्त वचन-रचनाको सुनकर प्रभु (श्रीरामजी) संतुष्ट (प्रसन्न) हुए॥५॥ प्रभुने कहा—'हर! तुम्हारी प्रतिज्ञा रह गयी (अर्थात् मान-मर्यादाके साथ निबह गयी, पूरी हो गयी) अब जो हमने कहा है उसे हृदयमें रखना (अर्थात् स्मरण रखना, भूल न जाना)॥६॥

नोट—१ *'प्रभु तोषेउ सुनि……'* इति। (क) 'तोषना' क्रिया केवल पद्यमें प्रयुक्त होती है। सं० 'तोषण' से बनायी गयी है। अर्थ है 'सन्तुष्ट, तृप्त या प्रसन्न होना'। सन्तुष्ट होना कहकर उसका कारण दूसरे चरणमें बताते हैं कि उन वचनोंकी रचना भक्ति-विवेक-धर्म-युक्त है। कौन वचन भक्तियुक्त है, कौन विवेकयुक्त और कौन धर्म युक्त है इसमें मतभेद है। नीचे चार्टसे विभिन्न मत समझमें आ जायेंगे।

वाक्य	पं० रा० कु०	सु० द्वि०	पं०	पां०	वि० त्रि०
जदपि उचित अस नाहीं	विवेक	विवेक	भक्ति		
नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं	,,	भक्ति	,,		
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा	भक्ति	धर्म	धर्म	भक्ति	भक्ति
परम धरमु यह नाथ हमारा	धर्म, भक्ति	,,	,,	धर्म	धर्म
'मातु पिता'……'सुभ जानी'	धर्म	,,	विवेक		
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी	भक्ति	धर्म	,,		

पाँडेजीका मत है कि *'सिर धरि……'* भक्ति है, *'परम धरम……'* धर्म है और इन दोनोंका सँभाल 'विवेक' है। और किसीका मत है कि—*'मातु पिता……। बिनहि बिचार'* में 'बिचार' शब्द होनेसे इसे विवेकयुत वचन समझना चाहिये। ☞ मेरी समझमें सारे वचन भक्तिसम्बन्धी विवेक और धर्मसे युक्त हैं। (ख) यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है। यथा—*'जहँ मनरंजन बरनिये एक संग बहु बात। सो सहोक्ति आभरण है ग्रंथनमें बिख्यात॥'* (अ० मं०)

नोट—२ *'कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ।'* इति। (क) शिवजीने कहा था कि *'जदपि उचित अस नाहीं',* उसीपर प्रभु कहते हैं कि *'तुम्हार पन रहेऊ।'* भाव कि प्रण था कि *'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं',* सो सती-तन तो भस्म हो गया, अब तो पार्वती-तन है। शिवजीने कहा कि *'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी।……'* इसीसे कवि भी यहाँ *'कह प्रभु'* लिखते हैं, क्योंकि उन्होंने ही यह कहा है कि *'प्रभु'* की वाणीको बिना विचारे ही करना चाहिये। पुनः, जैसे वहाँ *'कह सिव'* लिखा वैसे ही यहाँ *'कह प्रभु'* लिखा। (ख) 'सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यहाँ श्रीरामजीने हास्य बुद्धिसे *'हर'* कहा है। अर्थात् तुम्हारा प्रण ठीक रह गया, तुमने सतीके तनको हर लिया। और आगे *'अब उर राखेहु'* यह भी हास्यसे

कहा है। अर्थात् याद रखना नशेकी झोंकमें भूल मत जाना।' (ग) *'अब उर राखेहु'* का भाव कि आप 'भोलानाथ' हैं, भोले बाबा हैं, बहुत शीघ्र भूल जाते हैं, इसीसे सावधान किये देता हूँ कि भूल न जाना। पुनः भाव कि अबतक आप हृदयमें यह रखे थे कि ब्याह न करेंगे, पार्वतीजीको न ग्रहण करेंगे, उस बातको हृदयसे निकालकर अब उसकी जगह हमारी बात *'जाइ बिबाहहु'* को रखिये। ☞ जैसे उमाजीका हठ था कि जबतक शिवजी न मिलेंगे, तप न छोड़ूँगी। इससे ब्रह्मवाणीने उनसे कहा था कि *'हठ परिहरि घर जायहु'*, वैसे ही शिवजीसे कहा गया।

अंतरधान भए अस भाषी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥७॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए। बोले प्रभु अति बचन सुहाए॥८॥

अर्थ—ऐसा कहकर वे अन्तर्धान (गुप्त, अदृश्य, गायब) हो गये। शङ्करजीने उसी मूर्ति-(ध्यान-) को हृदयमें धर लिया॥७॥ उसी समय सप्तर्षि शिवजीके पास आये। प्रभु (शिवजी) उनसे अत्यन्त सुन्दर वचन बोले॥८॥

नोट—१ *'अंतरधान भए'*…… इति। (क) आदिमें प्रभुका एकदम प्रकट होना और यहाँ अन्तमें अन्तर्धान होना कहकर शिवजीके विश्वासको चरितार्थ किया जो उन्होंने आगे कहा है—*'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'*……(१। १८५) (ख) *'अस भाषी'* अर्थात् *'हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ॥'* यह कहकर काम हो गया, अब ठहरनेकी आवश्यकता न रह गयी, अतः अन्तर्धान हो गये। (ग) *'संकर सोइ मूरति उर राखी'*—इस कथनसे सूचित होता है कि इसके पूर्व और किसी छबिको हृदयमें बसाये हुए थे। कुछ लोगोंका अनुमान है कि इसके पूर्व वनकी झाँकी जिसका दर्शन दण्डकारण्यमें हुआ था हृदयमें रखे थे। (घ) प्रभुने तो बात हृदयमें रखनेको कही थी पर इन्होंने मूर्त्तिको भी हृदयमें रख ली इससे उनकी विशेष श्रद्धा दर्शित हुई। (मा० प०) क्षणभरका वियोग असह्य है, या तो इन आँखोंके सामने रहें या मानसिक दृष्टिके सामने रहें। (वि० त्रि०)

नोट—२ *'तबहिं सप्तरिषि'*……'इति। (क) ब्रह्मवाणीने सर्वप्रथम सप्तर्षिकी चर्चा की है; यथा—*'मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥'* (७५) और यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके अन्तर्धान होते ही तुरंत *'तबहिं'* तत्काल ही वे आ गये। अर्थात् इधर प्रभु अन्तर्धान हुए और उधर वे आये। इससे अधिक महात्माओंका मत यही है कि वह वाणी भी श्रीराम ब्रह्मकी ही थी और उन्हींकी प्रेरणासे सप्तर्षि भी उसी समय पहुँच गये। बैजनाथ आदिके मतसे वह ब्रह्माजीकी वाणी थी, और ब्रह्माजीकी प्रेरणासे सप्तर्षि वहाँ आये। शिवपुराण तथा कालिदासजीका मत है कि शिवजीने तेजोमय सप्तर्षिका स्मरण किया तो वे शिवजीके सम्मुख तत्काल ही आ प्राप्त हुए और उन्होंने शिवजीकी पूजा और स्तुति की। कहा कि आपके स्मरणरूपी अनुग्रहसे आज हम अपने तपकी सिद्धि समझते हैं, अपनेको अधिक मानते हैं, क्योंकि सत्पुरुषोंके द्वारा किया हुआ आदर अपने गुणोंमें प्रायः विश्वासको उत्पन्न करता है। आपके स्मरण करनेसे हमलोग उपस्थित हुए हैं। क्या आज्ञा होती है? यथा—'**वसिष्ठादीन्मुनीन्सप्त सस्मार सूतिकृद्धरः॥ सप्तर्षिमुनयश्शीघ्रमाययुस्स्मृतिमात्रतः।**……'(शिवपुराण २। ३। २५। ७-११) अर्थात् शिवजीने वसिष्ठादि सप्तर्षियोंका स्मरण किया, स्मरण करते ही वे शीघ्र आ गये। पुनश्च यथा—'**ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः॥ ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः। सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन् पुरः प्रभोः॥**……**चिन्तितोपस्थितांस्तावत् शाधि नः करवाम किम्॥**' (कुमारसम्भव ६। ३-४, २४) पार्वतीमंगलमें भी शिवजीका उन्हें स्मरण करना लिखा है। यथा—*'सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिर नाइन्ह। कीन्ह संभु सनमानु जनम फल पाइन्ह॥ सुमिरहिं सकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृती बर। नाथ जिन्हहिं सुधि करिअ तिन्हहि सम तेइ नर॥* ४७॥ *सुनि मुनि बिनय महेस परम सुख पाएउ।'*—पार्वतीमंगलकी कथा कुमारसम्भवसे प्रायः मिलती-जुलती है। पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें इन्द्रने सप्तर्षियोंको पार्वतीजीके पास भेजा है; इसलिये पद्मपुराणकी कथा मानसमें नहीं लग सकती। ☞ *'कल्पभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्हि गाए॥'* के अनुसार और सभी उपर्युक्त भाव ठीक हो सकते हैं। मतभेद होनेसे मानसकविने सप्तर्षिका आगमनमात्र कहकर सब मतोंकी रक्षा की है।

☞ एक बात स्मरण रखनेकी है कि मानसमें जहाँ-जहाँ स्मरण करना कहा है वहाँ उसे प्रत्यक्ष लिखा है, जैसे कि—*'सुमिरत राम हृदय अस आवा', 'हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं'* (श्रीसीताजी), इत्यादि। यह भी हो सकता है कि शिवजीने अपने इस कर्मसे अपनेको प्रभुकी आज्ञा पालन करनेमें परम उत्साहित और तत्पर दिखाया। (ख) *'सप्तर्षि'* इति। पूर्व दोहा ७५ की अर्धाली ४ *'मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा।'* में लिखा जा चुका है कि प्रत्येक मन्वन्तरमें सप्तर्षि भिन्न-भिन्न होते हैं। जबतक यह निश्चय न हो कि किस कल्पके किस मन्वन्तरमें यह चरित हुआ, तबतक सातोंके ठीक-ठीक नाम नहीं बताये जा सकते। ☞ वर्तमान समयमें वैवस्वतमन्वन्तर चल रहा है, इसके सप्तर्षि ये हैं—'**कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्वसिष्ठश्च साध्वी चैवाप्यरुन्धती॥**' (७५।४) देखो।

नोट—३ *'बोले प्रभु अति बचन सुहाए।'* ☞ श्रीशिवजीकी रामाज्ञामें तत्परता कवि अपने शब्दोंसे दिखा रहे हैं कि सप्तर्षियोंके आते ही उन्होंने कुछ और बात न की, झट पार्वतीजीके पास जानेकी आज्ञा दी। वचनोंको *'अति सुहाए'* विशेषण दिया; क्योंकि ये वचन श्रीरामाज्ञाके अनुकूल हैं। पुनः भाव कि ये वचन सप्तर्षियों, देवताओं तथा सभीको भाये, अतः *'सुहाए'* कहा। पुनः सुधाकर द्विवेदीके मतानुसार *'अति सुहाए'* का आशय यह है कि 'तारकासुरसे सब घबड़ा गये थे, सबकी इच्छा थी कि शीघ्र ही शिवजी पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। सप्तर्षि भी व्याहकी प्रार्थनाके ही लिये शिवजीके पास आये थे। उनके मनकी बात कहनेसे वचन *'अति सुहाए'* हुए।

सप्तर्षिका स्वयं प्रभुप्रेरित आगमन अथवा बुलाया जानेका आशय यह है कि विवाह करानेमें एक मध्यस्थ होता है। ये मध्यस्थका काम करेंगे। ब्रह्मवाणीको प्रमाण करेंगे। यथा—'**मध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे।**' (अर्थात् इष्ट अर्थमें मध्यस्थकी आवश्यकता होती है।)

दोहा—पारबती पहि जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु।
गिरिहि प्रेरि* पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु॥७७॥

शब्दार्थ—**प्रेरि** (सं० 'प्रेरणा' से)=प्रेरणा करके। किसीको किसी कार्यमें प्रवृत्त या नियुक्त करने वा लगाने वा उत्तेजना देनेको 'प्रेरणा' कहते हैं। **प्रेरि**=भेजकर, नियुक्त करके।

अर्थ—आपलोग पार्वतीके पास जाकर उनके प्रेमकी परीक्षा लें और हिमवान्‌को प्रेरणा करके भेजकर उन्हें घर भेजवाइये तथा उनके सन्देहको दूर कर दीजिये॥७७॥

नोट—१ *'पारबती पहि जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु'* इति। 'प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, उनके वचनोंमें विश्वास रखना कि ये सदा शुभ हैं, यह सबका एवं हमारा परम धर्म है, कर्तव्य है, यह शिवजी स्वयं कह चुके हैं। इस तरह पार्वतीजीका पाणिग्रहण तो मंजूर कर चुके, प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की। तब पार्वतीजीके प्रेमपरीक्षाका प्रयोजन अब क्या रह गया? क्या प्रेम न हो तो न ग्रहण करेंगे? ये शंकाएँ उठाकर महानुभावोंने उसका समाधान इस प्रकार किया है—

पं० रामकुमारजी—पार्वतीजीका प्रेम तो शिवजी मानते ही हैं, अब सप्तर्षिद्वारा परीक्षा कराके उसे जगत्‌में प्रकट किया चाहते हैं। तप तो संसारने जान लिया, भीतरका प्रेम परीक्षा बिना कैसे खुले? यथा—'***प्रेम अमिय मंदरु बिरह भरतु पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥***' (२।२३८) जैसे भरतजीका प्रेम जगत्‌को प्रकट दिखानेके लिये और आदर्श जनानेके लिये भरतकी यह परीक्षाका चरित रचा गया तथा जैसे श्रीजानकीजीकी शुद्धता जगत्‌में प्रमाणित करनेके लिये सीतात्याग और लंकामें अग्नि-परीक्षाका चरित किया गया; नहीं तो श्रीरामजी तो प्रेम और पवित्रता जानते ही थे। यदि पार्वतीजीका प्रेम शिवजी न जानते होते तो ऐसा न कहते कि *'गिरिह प्रेरि पठएहु भवन दूरि करेहु संदेहु'* किंतु सन्देहयुक्त (संदिग्ध) वचन कहते। [☞ पार्वतीजीका सन्देह पूर्व ही कह आये हैं—*'मिलन कठिन मन भा संदेहू'*

* जाइ पठएहु-१७२१, १७६२, छ०। प्रेरि पठएहु—१६६१, १७०४। प्रेरि पठवहु—का० रा०।

देखिये जब प्रभु कृपा करते हैं तब सब भाँतिसे करते हैं। उनका परमानन्य पातिव्रत्य जगत्‌को आदर्शरूपसे दिखलानेके लिये प्रेम-परीक्षा करायी गयी।' ऐसा ही प्रेम हमारा श्रीरामजीमें होना चाहिये।]

वन्दनपाठकजी—'श्रीरामजीके कहनेसे महादेवजीने तो पार्वतीजीसे विवाह करना स्थिर कर लिया था, संशय केवल इतना था कि विवाहयोग्य अवस्था आ गयी है कि अभी कसर है। इस बातके जाँचनेके लिये प्रेम-परीक्षा लेना कहा। अर्थात् मेरेमें प्रेम-प्रभावके उत्पन्न होनेसे तुम लोगोंको अवस्था मालूम हो जायगी। उस समय हिमवान्‌को हठसे भेजकर पार्वतीको घर भेजवाना। जो हिमवान्‌को संशय हो कि महादेवजी पार्वतीजीको शायद स्वीकार करें तो तुम लोग सब संशयको दूर कर देना।

सु० द्वि०—लोकव्यवहार दिखानेके लिये सप्तर्षियोंको प्रेम-परीक्षा लेनेको कहा अर्थात् हृदयसे मेरेमें पार्वतीका अनुराग है या नहीं, इसको जाँचो।

सू० प्र० मिश्र—परीक्षा लेनेका भाव यह है कि उसका हठ गया या नहीं, इसे देखकर तब हिमालयके पास जाना।—अस्तु।

वि० त्रि०—प्रभु लोग जनकी प्रीतिकी परीक्षा करते हैं, यथा-'*सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा।*' (६। १०१। ३) इससे प्रभुका अज्ञान नहीं समझना, उसका उद्देश्य नीतिरक्षा है। यथा—'*जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥*' यदि कोई प्रेमके लिये तपस्या करता हो तो उसके प्रेमकी परीक्षा लेनी नीति है। परीक्षोत्तीर्ण होनेका यश उसे मिलेगा और परीक्षकका भी मान हुआ कि वे अमुककी परीक्षा लेनेके योग्य समझे गये। सती-शरीरसे इन्होंने स्वामीकी परीक्षा लेना उचित समझा था, अत: स्वीकारके पहले शिवजीने इनकी भी परीक्षा लेना उचित समझा, परीक्षामें उत्तीर्ण होना तो निश्चित ही है।

ब्रह्मगिरा भी सत्य करनी है कि '*मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥*' इसलिये सप्तर्षि भेजे गये और भेजनेका यह तो एक बहानामात्र है कि परीक्षा लें। '*दूरि करेहु संदेहु।*' सन्देह पार्वतीजी और हिमवान्‌जी दोनोंमें घट सकता है। गिरिराजको सन्देह था कि पार्वतीजी बिना शिवप्राप्तिके घर लौटेंगी या नहीं, क्योंकि अनेक बार वे पूर्व उनको लेने गये परंतु वे न लौटीं। यह बात ब्रह्मवाक्यसे भासित होती है कि '*हठ परिहरि घर जाएहु।*' इनको समझा देना चाहिये कि अब वे अवश्य आयेंगी, उनका मनोरथ सुफल होगा, इत्यादि। पुनः, (७७।७-८) के नोट ३ में भी एक कारण लिखा जा चुका है कि विवाहमें मध्यस्थ, बिचवानी वा साधककी आवश्यकता होती है। यह पार्वतीमंगलके '*दुलहिनि उमा, ईस बरु, साधक ए मुनि। बनिहि अवसि यहु काज गगन भइ अस धुनि॥*' (४९) इस वाक्यसे भी स्पष्ट है और परीक्षा तो एक व्याजमात्र है। पुन: माधुर्यमें यह भाव भी ले सकते हैं कि परीक्षा लो जिसमें मेरा संदेह दूर हो। संदेह होनेपर ही लोकव्यवहारमें परीक्षा लेना देखा जाता है। इसीसे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर सप्तर्षिको हर्ष हुआ और ये समाचार देने शिवजीके पास गये, जिसे सुनकर शिवजी प्रेममें मग्न हो गये।

नोट २—हिमाचल और मेना पूर्व लेने गये थे यह बात (शिवपु० २। ३। २३) में स्पष्ट लिखी है। यथा—'**हिमालयस्तदागत्य पार्वतीं कृतिनिश्चयाम्। सभार्यस्ससुतामात्य उवाच परमेश्वरीम्॥**' (२) पर वे न लौटीं, सबको लौटा दिया; यथा—'**सर्वे भवन्तो गच्छन्तु स्वं स्वं धाम प्रहर्षिताः॥**' (१३)

***तब रिषि तुरत गौरि पहँ गयऊ। देखि दसा मुनि बिस्मय भयऊ॥ १॥**
रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥ २॥

---

* यह अर्धाली संवत् १६६१ की प्रतिमें है। छूटका चिह्न देकर हाशियेपर लिखी गयी है। लेखनी और मसि वही जान पड़ती हैं। सुधाकर द्विवेदीजी, सू० प्र० मिश्रजी एवं पं० रामगुलाम द्विवेदीजीकी प्रतियोंमें भी यह पाठ है। परन्तु काशिराजकी, छक्कन लालजी और भागवतदासजीकी पोथियोंमें नहीं है। करुणासिंधुजी एवं बैजनाथजीकी छपी पुस्तकोंमें इसकी जगहपर—'सुनि सिव बचन परम सुख मानी। चले हरषि जहँ रही भवानी॥' यह अर्धाली है जो किसी प्रामाणिक पोथीमें नहीं मिलती है।

अर्थ—तब (अर्थात् शिवजीकी आज्ञा सुनकर) सप्तर्षि तुरंत गौरी-(श्रीपार्वतीजी-)के पास गये। उनकी (तपसे क्षीण) दशा देखकर मुनि विस्मित हो गये (उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ)॥ १॥ ऋषियोंने वहाँ गिरिजाजीको कैसे देखा जैसे (मानो) मूर्तिमान् तपस्या ही है॥ २॥

नोट—१ *'तब रिषि तुरत······'* इति। (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—'जैसे शिवजीने बहुत बातचीत न की, तुरंत ऋषियोंको प्रेम-परीक्षाके लिये भेजा, वैसे ही ऋषिलोग भी 'तुरंत' गौरीजीके पास गये। श्रीरामजीकी आज्ञा शिरोधार्य करते ही पार्वतीजी शिवजीकी अर्धाङ्गिनी हो गयीं। शिवजी '**कर्पूरगौरम्,** '**कुंद इंदु दर गौरसुंदरं**' कहे गये हैं। इसलिये गौरके अर्धाङ्गके योग्य यहाँ ग्रन्थकारने *'गौरी'* नाम कहा।' (ख) ☞ स्त्रियाँ अपने सुहागके लिये गौरीका ही पूजन करती हैं। इससे अनुमान होता है कि पतिके लिये तप करनेसे *'गौरी'* नाम पड़ा हो।—*'पूजन गौरि सखी लै आईं।'* (१। २३१) पुनः गौरी=आठ वर्षकी कन्या=गोरे रंगकी कन्या। यथा—'**अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥**' (प्रसिद्ध है)। तप देखकर सप्तर्षिको आश्चर्य क्यों हुआ? इसका कारण कविने यहाँ *'गौरि'* शब्द देकर बता दिया है कि वह अभी आठ ही वर्षकी थीं जब तपस्या करने लगीं। यह अवस्था और उसपर यह दुष्कर मुनियोंके भी मनको अगम तप! अतः आश्चर्य हुआ। (ग) गौरी, सती, पार्वती, गिरिजा, शिवा, अपर्णा, उमा आदि पार्वतीजीके ही नाम हैं। (घ) *'देखि दसा······'*; यथा—*'देखि उमहि तप खीन सरीरा।'* (७५) जो तप इन्होंने किया वह धीर-मुनि-ज्ञानियोंसे भी होना कठिन था, यथा—*'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ग्यानी॥'* (७५। ब्रह्मवाणी); अतः आश्चर्य हुआ।

नोट—२ *'रिषिन्ह गौरि······ देखी'* इति। (क) मूर्तिमान् तपस्या ही है ऐसा देखा अर्थात् तेजपुञ्ज तपोमूर्ति ही है, तपस्याकी मानो अधिष्ठात्री देवी हैं। तपसे तेजोमय हो गयी हैं; यथा—*'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।'* पद्मपुराणमें लिखा है कि इनके तेजने सूर्य और अग्निकी ज्वालाओंको भी परास्त कर दिया। (तपसे तेजका विस्तार हो रहा है, इसीसे गौरी नाम दिया। वि० त्रि०) (ख) सू० प्र० मिश्र लिखते हैं, कि 'यहाँ कुछ त्रुटि मालूम पड़ती है। वह यह है कि जब साधारण जन भी किसी श्रेष्ठके यहाँ जाता है, तो वह अवश्य उसे कुछ आदरके साथ बैठाता है और उसके आनेका कारण पूछता है, तब वह अपने आनेका कारण कह सुनाता है। इन बातोंका यहाँ कुछ भी उल्लेख नहीं है। कुमारसम्भवमें उल्लेख है कि जब शिवजी ब्रह्मचारी-वेषमें परीक्षा लेने गये तब गिरिजाजीने प्रथम उनका आदर-सम्मान किया, तदनन्तर दूसरी बातें हुईं।' मेरी समझमें यहाँ पूजन, आदर-सत्कार शिष्टाचारका उल्लेख न होनेके दो कारण समझ पड़ते हैं। एक तो यह कि मुनियोंने उनको इस शिष्टाचारका मौका ही न दिया। उन्हें बहुत काम करने हैं, इनकी परीक्षा, फिर हिमवान्‌को समझाकर इनके पास भेजना, इनको घर भेजवाना और सबोंका संदेह निवृत्त करना—और शीघ्र ही शिवजीको सब समाचार देना। इसीसे उन्होंने पहुँचते ही प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिया। दूसरे, *'रिषिन्ह गौरि देखी······मूरतिवन्त तपस्या जैसी।'* से जान पड़ता है कि गौरीजी तपमें मग्न हैं, उन्होंने अभी तप करना छोड़ा नहीं है। छोड़तीं कैसे? ब्रह्मवाणीने तो स्वयं कहा है कि वाणीको प्रमाण तब जानना जब सप्तर्षि मिलें। ऐसा अनुमानित होता है कि ब्रह्मवाणी और शिवजीको श्रीरामदर्शन; ये दोनों एक ही समय तुरंत आगे-पीछे हुए हैं। (ग) शिवपुराणमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**इत्याज्ञप्ताश्च मुनयो जग्मुस्तत्र द्रुतं हि ते। यत्र राजति सा दीप्ता जगन्माता नगात्मजा॥ तत्र दृष्टा शिवा साक्षात्तपःसिद्धिरिवापरा। मूर्ता परमतेजस्का विलसन्ती सुतेजसा॥**' (२। ३। २५। १८-१९) इस उद्धरणमें '**दीप्ता**', '**साक्षात्तपःसिद्धिरिवापरा**······**सुतेजसा**' मानसके '**मूरतिमंत तपस्या**' के भावार्थ ही हैं। अर्थात् दीप्तियुक्त थीं मानो मूर्तिमती दूसरी तपकी सिद्धि हो परम तेजोमय मूर्तिसे विराजमान हो।

कुमारसम्भवमें श्रीपार्वतीजीकी तपोमूर्तिका वर्णन इस प्रकार है—'**यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्। न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥**' (५) अर्थात् पूर्व जैसे कोमल केशोंसे मुख शोभित था, वैसे ही अब जटाओंसे सुशोभित है। कमलपुष्प केवल भ्रमरसे ही नहीं शोभित होता,

किंतु काईके सङ्गसे भी शोभित होता है। (घ)—यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्प्रेक्षा अलंकारका मुख्य तात्पर्य किसी उपमेयका कोई उपमान कल्पना-शक्तिद्वारा कल्पित कर लेना है। कल्पना प्रतिभाके बलसे ही हो सकती है। जितनी ही शक्तिमती प्रतिभा होगी उतनी ही उत्तम कल्पना हो सकेगी, इसलिये इस अलंकारको उत्प्रेक्षा कहते हैं। यथा—*'बल सों जहाँ प्रधानता करि देखिय उपमान। उत्प्रेक्षा भूषन तहाँ कहत सुकवि मतिमान॥'* जहाँ किसी वस्तुके अनुरूप बलपूर्वक कोई उपमान कल्पित किया जाता है वहाँ 'वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' होता है। इसके भी दो भेद हैं। जहाँ उत्प्रेक्षाका विषय न कहा जाय, केवल उसके अनुरूप कल्पना की जाय वहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' होती है।-(अलंकारमंजूषा) यहाँ तपस्याका मूर्तिमान् होना कविकी कल्पनामात्र है।

बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तपु भारी॥ ३॥
केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरमु किन* कहहू॥ ४॥

अर्थ—मुनि (सप्तर्षि) बोले—हे शैलकुमारी गिरिजे! किस कारण तुम (यह इतना) भारी तप कर रही हो?॥ ३॥ किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो? हमसे (अपना) सच-सच मर्म (भेद) क्यों नहीं कहती हो?॥ ४॥

मिलानके श्लोक—**'शृणु शैलसुते देवि किमर्थं तप्यते तपः। इच्छसि त्वं सुरं कं च किं फलं तद्वदाधुना॥'** शिवपु० २। ३। २५। २१ अर्थात् हे शैलकुमारी! तुम किसलिये तप कर रही हो? तुम किस देवताका या किस फलकी कामना करती हो? सब कहो।

नोट—१ *'बोले मुनि सुनु सैलकुमारी।......'* इति। (क) माताको जो स्वप्न सुनाया था उसमें भी 'सैलकुमारी' ही सम्बोधन था। यथा *'करहि जाइ तपु सैलकुमारी।'* (७३। १) यहाँ 'सैलकुमारी' से जड़ता सूचित की; इसीको आगे स्पष्ट कहेंगे; यथा *'गिरि संभव तव देह।'* प्रश्नके आदिमें और उत्तरके अन्तमें जड़ताका भाव सूचित किया है, फिर नहीं। (ख) *'करहु कवन कारन तपु भारी'* का भाव कि जिसके लिये लोग तप करते हैं वह सब बातें तो तुम्हें बिना तप किये ही प्राप्त हैं, यथा—'**कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः। अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपः फलं स्यात्किमतः परं वद॥**' (कुमारसम्भव ५। ४१) अर्थात् ब्रह्माके प्रथम कुल-(उत्तम देवकुल-) में जन्म; त्रैलोकोत्तर सौन्दर्य, कान्तिमान् दिव्य शरीर, बिना परिश्रम ही ऐश्वर्य (राज्यसुख) और नवीन अवस्था (जब प्राप्त ही है तब इसके अतिरिक्त) इससे बढ़कर तपका फल क्या हो सकता है (आप ही) बतलाइये? यही आशय पार्वतीमंगलके बटुरूप शिवजीके वाक्योंमें है। यथा *'जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु पिता कर। तीयरतन तुम्ह उपजिहु भवरत्नाकर॥ अगम न कछु जग तुम्ह कहँ मोहि अस सूझइ। बिनु कामना कलेस कलेस न बूझइ॥ जौं बर लागि करहु तपु तौ लरिकाइय। पारस जौं घर मिलै तौ मेरु कि जाइय॥ मोरें जान कलेस करिय बिनु काजहि। सुधा कि रोगिहि चाहहि रतन कि राजहि॥ लखि न परेउ तपकारन......।'* (२७-२८)

वि० त्रि०—परीक्षा लेनेमें ही सतीसे चूक हुई थी। अतः ग्रन्थकार इनकी परीक्षा लेनेकी विधि बतलाते हैं। सप्तर्षियोंने अपना स्वरूप नहीं पलटा। केवल मन्वन्तरके सप्तर्षि होनेके नाते पूछते हैं कि किस कारण तप करती हो? जिसमें उत्तर पानेपर शंकरभगवान्में वरोचित गुणोंका अभाव दिखलावें और विष्णुमें सभी वरोचित गुणोंकी स्थिति निरूपण करें, इतनेसे ही परीक्षा हो जावेगी।

नोट—२ *'केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू।......'* इति। *'किन कहहू'* इन अन्तिम वचनोंसे जान पड़ता है कि *'करहु कवन कारन तपु भारी'* का उत्तर न मिला तब दूसरा प्रश्न किया, उसका भी उत्तर न मिला, अथवा गिरिजाको उत्तर देनेमें कुछ संकुचित देखा तब मुनियोंने कहा कि *'हम सन सत्य मरमु किन कहहू'?* भाव कि हमलोग तो ऋषि हैं, हमसे क्या पर्दा? हमसे क्यों छिपाती हो?

---

* सब—१७२१, १७६२, छ०। किन—१६६१। को न—१७०४

१ मरम—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बचन—१६६१, १७०४, सुधाकर द्विवेदी।

(हम मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं, तपस्वियोंकी देखभाल हमारे सुपुर्द है, हम वर भी दे सकते हैं, अतः हमसे मर्म कहना चाहिये। वि० त्रि०)

[सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी॥]*
कहत बचन मनु अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई॥ ५॥
मनु हठ परा न सुनै सिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा॥ ६॥

शब्दार्थ—**भीति**=दीवार। **बारिपर भीति उठाना**=पानीपर दीवार खड़ी करना। यह मुहावरा है।

अर्थ—(ऋषियोंके वचन सुनते ही भवानी गूढ़ मनोहर वाणी बोलीं) वचन कहनेमें मन बहुत सकुचाता है। आप सब लोग हमारी जड़ता (मूर्खता) सुनकर हँसेंगे॥ ५॥ मन हठमें पड़ा है (अर्थात् हठ पकड़ ली है), (किसीकी) शिक्षा सुनता ही नहीं। वह पानीपर दीवार उठाना चाहता है॥ ६॥

नोट—१ ***'कहत बचन······'*** इति। (क) ***'कहत बचन मनु अति सकुचाई'*** को कवि या वक्ताकी उक्ति मान सकते हैं और पार्वतीजीकी भी। कविकी उक्ति माननेमें अर्थ होगा कि—कवि कहता है कि—'पार्वतीजी बात कह रही हैं पर उनके मनमें बहुत बड़ा संकोच भरा हुआ है। मनमें अत्यन्त संकोचयुक्त होकर वे वचन कह रही हैं कि—।' इसी तरहका उदाहरण अयोध्याकाण्डमें यह है—***'मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं।'*** (२। ६१। १) पार्वतीजीकी उक्ति मानें तो भी अर्थ ठीक लग जाता है। (ख) सप्तर्षियोंने मर्म पूछा—***'हम सन सत्य मरमु किन कहहू।'*** और कहा कि सत्य-सत्य कहो। मर्म गुप्त रखनेकी वस्तु है, उसे प्रकट करनेको कहते हैं। इसी कारण मनमें संकोच हो रहा है तथापि ब्रह्मर्षियोंकी आज्ञाको भी कैसे टालें। अतः इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया। क्या संकोच है? इसके उत्तरकी झलक दूसरे चरणमें है कि सुननेवाले हँसेंगे, हमको मूर्ख वा जड़ कहेंगे। कौन-सी वह जड़ता है यह दूसरी अर्धालीमें कहती हैं कि जलपर दीवार खड़ी करना चाहती हैं—यह जड़ता ही तो है, जो सुनेगा, हँसेगा। पुनः संकोचका कारण यह भी है कि स्त्रीको स्त्रीसे भी पतिकी वार्ता करनेमें लज्जा लगती है और ऋषि चिरकालीन हैं तथा पिताके तुल्य हैं, इनसे कैसे कहें? सत्य कहनेकी आज्ञा है अतः बात बनाकर कह नहीं सकतीं। इत्यादि। अतः ***'अति संकोच'*** है। पुनः ***'अति'*** का भाव कि सखी-सहेली आदिसे कहनेमें 'संकोच' होता है और पिता आदिसे 'अति संकोच' होता है। (ग) ***'हँसिहहु सुनि······'*** इति। मुनियोंने 'शैलकुमारी' संबोधन किया। शैल जड़ पदार्थ है, इस सम्बन्धमें यहाँ ***'जड़ताई'*** शब्दका प्रयोग अति उत्तम हुआ है। इस शब्दमें ध्वनि यह है कि आपने मुझे 'शैलकुमारी' कहा, सो पर्वत तो जड़ होता ही है, तब मुझमें जड़ता क्योंकर न होगी? अर्थात् मैंने शैल-सम्बन्धके योग्य ही जड़ता की है, इसलिये आप हँसेंगे। (स्नेह जाड्य है, यथा ***'सो सनेह जड़ता बस कहहू'।*** 'मैं स्नेहसे जड़ हूँ, मुझे समझनेका सामर्थ्य नहीं है।' वि० त्रि०)

नोट—२ ***'मनु हठ परा न सुनै सिखावा।······'*** इति। (क) इसमें ध्वनि यह है कि आप जो शिक्षा देने आये हैं उसे भी यह न सुनेगा, यह बड़ा हठी है, जैसे और किसीकी नहीं सुनता वैसे ही आपकी

---

* अर्धाली ५ 'कहत बचन······' के पहले 'सुनत रिषिन्ह······' कोष्ठकान्तर्गत अर्धाली पंजाबीजी, बैजनाथजी, रामायणीजी और पं० रामवल्लभाशरणजी, नंगे परमहंसजी, पांडेजी, बाबा हरिदासजीकी छपी पुस्तकोंमें है। परन्तु संवत् १६६१, नागरी प्र० सभा, गीताप्रेस आदिमें यह नहीं है। मेरी समझमें यह प्रक्षिप्त अर्धाली है। यदि 'कहत बचन······सकुचाई' को कविकी उक्ति मान लें तब तो प्रक्षिप्ति प्रकट ही है। हाँ, जिनमें 'कहत मरम······' पाठ है उनको एक अर्धाली पूर्वकी आवश्यकता प्रतीत हो सकती है। १६६१ और १७०४ में 'बचन' ही है। 'कहत बचन' को श्रीपार्वतीजीकी भी उक्ति मानें तो भी 'सुनत रिषिन्ह······' की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।—इसीसे हमने इसे संख्यामें नहीं ली और कोष्ठकमें रख दिया है। मानसपीयूषके संवत् १९२४ वाले संस्करणमें हमने इसे दिया था। हाँ, शिवपुराणमें भी ऐसा श्लोक है—'इत्युक्त्वा सा शिवा देवी गिरीन्द्रतनया द्विजैः। प्रत्युवाच वचस्सत्यं सुगूढमपि तत्पुरः।' (२। ३। २५। २२)

भी न सुनेगा।—यह भी जड़ता है, मूर्खता है। (ख) *'चहत बारिपर भीति उठावा।'* अर्थात् पानीपर दीवार उठाना असम्भव है परन्तु मनने यही हठ ठान रखा है। असम्भवको सम्भव, अनहोनीको होनी करना चाहता है। शिवजीको प्राप्त करना, उनसे अपना ब्याह होना, यह इच्छा करना ही जलपर दीवार उठानेकी चाह करना है। शिवजी अगाध जल हैं, यथा—*'कृपासिंधु सिव परम अगाधा।'*, उनकी गृहिणी (स्त्री) बनना दीवार उठाना है। पुनः भाव कि वे परम विरक्त, निष्काम, योगीश्वर हैं अतः उनसे विवाह असम्भव है। वा, वे 'अगेह' हैं और मैं उनकी 'गेहिनी' बनना चाहती हूँ। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'शिवजी यहाँ जल हैं, समुद्रवत् अगाध और निराधार हैं, सती-त्यागके समयसे ही उन्होंने घर छोड़ दिया था, जाकर वटतले समाधि लगा ली थी, फिर सती-तन-त्यागके पश्चात् तो उनका राग कैलासमें भी न रह गया था, यथा—*'जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें सिव मन भएउ बिरागा॥'* सो उनकी घरनी बनना चाहती हैं। घरनी घर बिना कहाँ रह सकती है, जब संयोग होगा तब वह वैराग्य छोड़कर घर बनाना ही होगा। वैराग्य छुड़ाकर उनके मनमें 'राग' उत्पन्न करानेकी चाह ही 'भीति' उठाना है। श्रीनंगे परमहंसजीका भी यही मत है। पुनः, वारिपर भीति बनानेका भाव यह है कि जलकी स्थिति दृढ़ नहीं है, उसको आधार बनाकर उसपर दीवार खड़ी नहीं की जा सकती, वैसे ही मैं तपके बलपर शिवजीको ब्याहना चाहती हूँ, यह असम्भव है। *'जलपर दीवार उठाना'* मुहावरा है ऐसी वस्तुको आधार बनानेका कि जो दृढ़ न हो। (ग) यहाँ 'ललित अलंकार' है, क्योंकि कहना तो यह है कि मैं योगीश्वर शिवजीसे ब्याह करना चाहती हूँ, पर इस प्रस्तुत वृत्तान्तको न कहकर यह कहती हैं कि वारिपर 'भीति' उठाना चाहती हूँ। (वीरकवि) *'करहु कवन कारन तप'* का यह उत्तर है।

शिवपुराणमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**करिष्यथ प्रहासं मे श्रुत्वा वाचो ह्यसम्भवाः। संकोचो वर्णनाद्विप्रा भवत्येव करोमि किम्॥ इदं मनो हि सुदृढमवशं परकर्मकृत्। जलोपरि महाभित्तिं चिकीर्षति महोन्नताम्॥**' (२। ३। २५। २४-२५) अर्थात् आप मेरी असम्भव वाणी सुनकर अवश्य हँसेंगे अतः मुझे वर्णन करनेमें संकोच होता है, पर मैं क्या करूँ? यह मेरा दूसरेके वशमें पड़ा हुआ मन जलके ऊपर एक दृढ़ और बहुत ऊँची भीति बनाना चाहता है। ☞ इसके अनुसार वह अर्थ ठीक है जो हमने दिया है।

नारद कहा सत्य सोइ* जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना॥७॥
देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा† सिवहि भरतारा॥८॥

शब्दार्थ—**पंख** (सं० पक्ष। प्रा० पक्ख। मराठी एवं हिन्दी पंख)=पक्ष, पखने, पर, डैना, पाँख। वह अवयव जिससे चिड़ियाँ, पतिंगे आदि हवामें उड़ते हैं।

अर्थ—नारदजीने जो कहा उसीको सत्य जान लिया। हम बिना पंखोंके उड़ना चाहती हैं॥७॥ हे मुनियो! आप हमारा अज्ञान तो देखिये कि मैं सदा शिवजीको ही पति बनाना चाहती हूँ॥८॥

नोट—१ *'नारद कहा सत्य सोइ जाना।……'* इति। (क) जड़ता क्यों करती हो? जब तुम अपनी बातको असम्भव जानती हो तो फिर करती ही क्यों हो? इस सम्भावित प्रश्नका उत्तर देती हैं कि एक तो मनने ऐसा ही हठ कर लिया, वह कहा सुनता ही नहीं। दूसरा उत्तर यह है कि *'नारद कहा……।'* (ख) *'नारद कहा'* अर्थात् *'जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥'*, *'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साधे॥'*—यह जो नारदने कहा था। (ग) *'सत्य सोइ जाना'* इति। इससे नारदजीके वचनोंमें प्रतीति जनायी, उन्होंने बताया कि इसके लिये शिव ही वर हैं, अतः इसे मानकर उनको मनने पति मान लिया। और जो उन्होंने कहा कि *'इच्छित फल'* के लिये शिवाराधन

* १ सत्य हम—१७२१, १७६२, छ०। सत्त सोइ—को० रा०। सत्य सोई—१६६१, १७०४।

† सिवहि सदा—१७२१, १७६२, छ०। सदा शिवहि—१६६१, १७०४।

करना आवश्यक है, अतः शिवाराधन करती हूँ। ☞ इस प्रकार इन शब्दोंसे तीन बातें गुप्तरूपसे सूचित कीं।—एक तो *'केहि अवराधहु?'* का उत्तर दे दिया कि देवर्षि नारदने शिवाराधन बताया, अतः शिवाराधन करती हूँ। दूसरे, *'का तुम्ह चहहू?'* का उत्तर कि शिवजीको पति चाहती हूँ। तीसरे यह कि आराधना बतानेसे वे मेरे गुरु हुए, उनके वचनको त्यागनेकी नहीं। पुनः यह भी सूचित करती हैं कि यह हठ मैं अपने मनसे नहीं कर रही हूँ, नारदजी ऐसे महात्मा और देवर्षिकी सम्मतिसे करती हूँ कि जिनके कथनानुसार चलनेसे ध्रुव-प्रह्लादादि कृतकार्य हो गये। वे भी आप लोगोंसे कम नहीं हैं, कि सहज ही किसीके कहनेसे छोड़ दूँ—वस्तुतः सप्तर्षियोंने यह प्रश्न नहीं किया था; वे अपनी तरफसे ही कह रही हैं जिसका आशय यह हो सकता है।

* बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना *

भाव यह कि योगीश्वर शिवजीकी प्राप्तिके योग्य मुझमें साधन नहीं है तथापि उनको अपना पति बनाना चाहती हूँ। (पं०) यहाँ शिवजी आकाश हैं, यथा—'**चिदाकाशमाकाशवासं**', '**त्वं व्योम त्वं धरणिरात्मा**' **इति**। पुष्पदन्तमुनिवाक्य। सो मैं उनकी वामाङ्गी होना चाहती हूँ। वामाङ्गी होने या यों कहिये कि ईश-प्राप्तिके दो उपाय हैं तप और भक्ति। (यही दो नारदजीने बताये हैं; यथा—*'जौं तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥'* (१। ७०)।—यह तपका उपदेश दिया। दूसरे *'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे।'......'* यह आराधनाका उपदेश किया।) ये दोनों हममें नहीं हैं। केवल गुरु नारदके वचनका भरोसा है कि *'होइहि यह कल्यान अब'* और उनके आशीर्वादका भरोसा है। आकाशमें पक्षी पक्षबलसे ही उड़ते हैं। पक्ष न रहनेपर उड़ नहीं सकते; यथा—*'जरे पंख अति तेज अपारा। परेउ भूमि करि घोर चिकारा॥'* (४। २८) *'काटेसि पंख परा खग धरनी।'* (३। २९) ☞ यहाँ पार्वतीजी अपनेको बिना पक्षका पक्षी और शिवजीको आकाश जनाती हैं। तप और भक्ति दोनों पक्ष हैं। उनसे अपनेको रहित बताती हैं। (बाबाहरिदासजी) पं० रामकुमारजी 'कर्म और करतूत' को पंख बनाते हैं। वि० त्रि० का मत है कि आराधनके साधन विरति और विवेक हैं, यथा—*'श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।'* सो ये दोनों नहीं हैं, फिर भी आराधना करना चाहती हूँ। अथवा कार्यसिद्धिके साधन हैं दैव और पुरुषार्थ। सो दैव प्रतिकूल है, यथा—*'जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहिं उमहिं तस संसय नाहीं॥'* और पुरुषार्थ मुझमें है नहीं। ☞ *'बिना पंखके उड़ना'* मुहावरा है अर्थात् बिना साधन, उपाय या पुरुषार्थके ही कार्य सफल करनेकी आशा करना।

'सिद्ध योगी बिना पक्षके उड़ा करते हैं। यहाँ शिवजी चेतन आकाश हैं—'**चिदाकाशमाकाशवासं**।' शिवप्राप्तिके योग्य साधन पक्ष हैं। जैसे बिना पक्षके पक्षी नहीं उड़ सकता वैसे ही ऊर्ध्वरेता योगीश्वर श्रीशिवजीकी पत्नी होना सम्भव नहीं।' (मा० त० वि०)

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'पति-पत्नी-भावका नेहनाता ही पंख है। जबसे शिवजीने हमें त्याग दिया तबसे हम बिना पक्षके हो गयीं। अब नारदवाक्यके भरोसे बिना पक्षके ही हम उड़ना चाहती हैं अर्थात् पुनः संयोग किया चाहती हैं।'

☞ वस्तुतः *'बिना पंखके उड़ना'* मुहावरा है। इसके लिये यह आवश्यकता खोजनेकी नहीं है कि पंख क्या है, उड़ना क्या है, इत्यादि। ☞ यहाँ अनहोनी बातकी चाह करना 'असम्भव अलंकार' द्वारा सूचित किया गया है।

☞ ऐसा ही शिवपुराणमें कहा गया है। यथा—'**सुरर्षेशशासनं प्राप्य करोमि सुदृढं तपः। रुद्रः पतिर्भवेन्मे हि विधायेति मनोरथम्॥ अपक्षो मन्मनः पक्षी व्योम्नि उड्डीयते हठात्॥**' (२। ३। २६-२५) अर्थात् देवर्षिकी आज्ञासे रुद्रको पति बनानेके मनोरथसे अति दृढ़ तप करती हूँ। मेरा मनरूपी पक्षी बिना पक्षका होनेपर भी हठात् आकाशमें उड़ता है।—इस श्लोकके अनुसार 'मन' पक्षी है।

नोट—२ '*देखहु मुनि अबिबेकु हमारा।*......' इति। (क) अविवेक यही है कि शिवजीको सदाके लिये अपना पति बनाना चाहती हैं। भाव यह कि वे तो सहज ही उदासी हैं तब वे स्त्री क्यों करने लगे? और मैं उनकी अर्धाङ्गिनी बननेका हठ ठाने हुए हूँ, यह मेरा अज्ञान तो देखिये? सप्तर्षियोंने भी आगे यही कहा है; यथा—'*तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा।*' (ख) '*देखहु मुनि*' का भाव कि आप निश्चय ही इसे समझ सकते हैं, आपको भी मेरी बात ऐसी ही जँचेगी। पुन: भाव कि यह बात देखने ही योग्य है। (ग) '*चाहिअ सदा सिवहि भरतारा*' इति। *सदा सिवहि*—सदा शिवहीको।=शिवजीको ही सदाके लिये अर्थात् जन्म-जन्मान्तरोंके लिये, निरन्तरके लिये जिसमें अब कभी भी वियोग न हो। पुन:, नारदजीने कहा था कि '*सदा अचल एहि कर अहिबाता।*'।इसी '*सदा अचल*' के सम्बन्धसे यहाँ '*सदा सिव*' कहा। अर्थात् शिवजी सदा कल्याणस्वरूप हैं, अत: उन्हींकी पत्नी बननेसे अहिवात अचल रह सकता है। (घ) ☞ यहाँ पार्वतीजीने मन-कर्म-वचन तीनोंहीसे शिव-प्राप्तिकी चाह प्रकट की है। '*मन हठ परा*......' यह मन, '*बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना*' यह कर्म और '*चाहिअ सदा सिवहि भरतारा*' यह वचन है। (ङ) '*भरतारा*' शब्द भी '*सहज उदासा*' के सम्बन्धसे बहुत ही उपयुक्त है। जो भरण-पोषण करे वह 'भर्तार' है। उदासी क्या किसीका भरण-पोषण करेगा? कदापि नहीं। यह भी अविवेक ही है।

नोट—३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यह लेख उपहास-योग्य है। कोई कन्या अपने बड़ेसे ऐसा न कहेगी कि '*देखहु*...... *भरतारा।*' पर ये बातें समझमें नहीं आतीं कि गोस्वामीजीने ऐसी खुलाखुली बातें क्यों लिखीं? देखो, कालिदासने भी इसीको यों लिखा है कि पार्वतीजीने स्वयं नहीं कहा, बल्कि अपनी सखीको इशारा किया, तब उसने ही कहा कि ये महादेवजीको पति चाहती हैं। ऐसा कुमारसम्भवमें है।'—द्विवेदीजीकी शंकाका समाधान यह है कि—(क) यहाँ वनमें पार्वतीजी अकेली तप करने आयी हैं, उनके साथ कोई सखी नहीं है जैसा कि पूरे प्रसंगसे स्पष्ट है। ऋषि सत्य-सत्य कहनेको कहते हैं, उनसे झूठ भी तो नहीं कह सकतीं। इसीसे तो उत्तरके पूर्व प्रारम्भमें ही '*कहत बचन मनु अति सकुचाई*' शब्दोंका प्रयोग हुआ। इन शब्दोंकी सार्थकता इस शंकाके होनेपर स्पष्ट दिख रही है। (ख) बात कहनेमें परम संकोच है, फिर भी क्या करें...... लाचार हैं, ऐसा ही अवसर आ पड़ा है। नहीं बोलतीं तो सारा मामला ही चौपट हुआ जाता है। अत: ऐसे अवसरमें ऐसा कहा जाना दोष नहीं समझा जा सकता। ☞ देखिये, श्रीकौसल्या अम्बाके सामने जब श्रीरामजीको श्रीसीताजीसे बोलना पड़ा तब भी कविने श्रीरामजीका सकुचाना कहकर तब उनसे वचन कहलाये हैं; क्योंकि गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। यथा—'*मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं॥*' (२। ६१) वैसे ही श्रीसीताजीको भी सासके समीप ही पतिको उत्तर देना पड़ा, तब उन्होंने '*लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥*' (२। ६४)—इस तरह क्षमा-प्रार्थना करके कहा ही तो! न कहतीं तो करतीं ही क्या? वियोगमें प्राण ही निकल जाते। कम-से-कम चौदह वर्षका वियोग सामने था। इसी तरह यहाँ भी ब्रह्मवाणीसे सप्तर्षियोंका आगमन पूर्व ही मालूम हो चुका है। उनका आगमन कुछ रहस्यसे ही है। यदि उनसे नहीं बोलतीं तो बना-बनाया सारा खेल ही बिगड़ जानेकी सम्भावना है, मौका ही ऐसा आ पड़ा तब लाचार होकर कहना ही पड़ा, नहीं तो कभी न कहतीं। देखिये, वियोग सिरपर खड़ा देख और बिना स्पष्ट कहे काम न चलेगा, लज्जा करनेसे प्राण ही चले जायँगे, यह सब सोचकर सीताजीको सासके सामने मर्यादा तोड़नी पड़ी थी और उन्हीं सीताजीसे जब ग्रामवासिनी स्त्रियाँ पूछती हैं—'*कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥ सुनि सनेहमय मंगल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥*' (२। ११७) तब कविने वहाँ मर्यादाका कैसा व्यवहार दिखाया है। पतिका नाम लेना तो दूर रहा, अंगुल्यानिर्देश भी न किया गया। और इनको घरपर छोड़कर वनवासके लिये जानेपर तत्पर देख उन्हीं सीताजीको सब संकोच छोड़कर पूरा लेक्चर ही देना पड़ा जो अनुचित नहीं समझा जाता, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये।

नोट—४ श्रीलमगोड़ाजीने 'विश्वसाहित्यमें रामचरितमानसके 'हास्यरस' में सारे शिव-पार्वती-विवाह-

प्रकरणके प्रहसनकलाकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। हम संक्षेपसे कुछ बातें लिखेंगे जो इस प्रकरणमें विचारणीय हैं—(१) केन्ट और हेजलिटने जो अनमिल बेजोड़पनको हास्यका कारण बताया है, उसका यह बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है—एक ओर पार्वतीजीकी सुन्दरता और दूसरी ओर *'बर बौराह बरद असवारा'* इत्यादि। (२) हाँ, तुलसीदासजी पाश्चात्त्यदेशके इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि कोई चरित्र हर समय ही हास्य-चरित रहता है; इसीसे उनकी हास्यकला अधिक शिक्षाप्रद है, क्योंकि हमें ज्ञात होता है कि कब हमारा कोई दोष हास्यप्रद हो जाता है और हम सतर्क हो जाते हैं। शिवजीमें उपहासभाव इतना अधिक है कि वह ज्ञात हास्यचरित हैं और उन्हें चिड़चिड़ाहट नहीं आती। ☞ उपर्युक्त चौपाइयोंमें अनमिल-बेजोड़पन साफ है और अभी पार्वतीजीमें उपहासभावकी इतनी ही मात्रा है कि स्वयं उसको स्पष्ट कर देती हैं।

दो०—सुनत बचन बिहसे रिषय गिरि संभव तव देह।
नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह॥ ७८॥

शब्दार्थ—**किसु** (कस्य)=किसका। यथा—*'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू'* में 'जिसु'=जिसका।

अर्थ—(श्रीपार्वतीजीके ये) वचन सुनते ही सप्तर्षि खूब हँसे और हँसते हुए बोले कि (क्यों न हो आखिर) तेरा शरीर पर्वतसे ही उत्पन्न हुआ है! (भला), कहो तो, नारदका उपदेश सुनकर (आजतक) किसका घर बसा? अर्थात् किसीका तो नहीं॥ ७८॥

नोट—१ (क) *'सुनत बचन बिहसे रिषय'* इति। सप्तर्षि परीक्षा लेने आये हैं। इसीसे वे पार्वतीजी और नारदजीके वचनोंके निरादरार्थ हँसे और नारदजीके प्रति व्यंगसे उन्होंने निन्दा सूचित करनेवाले वचन कहे। आगे दोहा ८१ में ऋषियोंने कहा है कि *'तुम माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।'* और विवाहके समय श्रीमेनाजीको श्रीनारदजीके वचनोंमें प्रतीति भी दिलायी है। इससे स्पष्ट है कि भीतरसे वे न नारदजीकी निन्दा ही कर रहे हैं और न निरादर अभिप्रेत है, ऊपरसे ही परीक्षार्थ यह सब कर रहे हैं। शिवपुराणमें लिखा है कि शिवजीने सप्तर्षियोंको आज्ञा दी थी कि सर्वथा छल और वञ्चनायुक्त वचनोंसे परीक्षा करें, इसमें संशय न करें। यथा—'**सर्वथा छलसंयुक्तं वचनीयं वचश्च वः। न संशयः प्रकर्त्तव्यश्शासनान्मम सुव्रताः॥**' (२। ३। २५। १७) इसीसे वे छलभरे असत्य वचन बोले—'**प्रोचुश्छलवचो मृषा।**' (२८)—अतएव इस व्यंगमें स्तुति-पक्षके भाव भी महात्माओंने दरसाये हैं। जैसे ब्रह्माकृत व्यंग-स्तुति। विनयमें शिवजीकी यह है—*'बावरो रावरो नाहु भवानी'* वैसे ही यहाँ भी व्यंग है। (ख) *'गिरि संभव तव देह'* इति। भाव यह कि पर्वत जड़ है और तुम्हारी उत्पत्ति पर्वतसे है, इससे तुम्हारी बुद्धि भी जड़वत् हो गयी है, पथरा गयी है। स्तुतिपक्षमें भाव यह है कि पर्वत परोपकारी और गम्भीर होते हैं वैसे ही तुम भी परम पवित्रात्मा, गम्भीर और परोपकारिणी हो। *'गिरि संभव'* में लक्षणामूलक व्यंग है कि जड़की कन्या क्यों न जड़ता करे, शैलकी कन्या स्वाभाविक ही जड़ हुआ ही चाहे। (पं०, वीरकवि)

शिवपुराणमें जोड़के श्लोक ये हैं—'**इत्याकर्ण्य वचस्तस्या विहस्य मुनयश्च ते।**''''**न ज्ञातं तस्य चरितं वृथा पण्डितमानिनः। देवर्षेः क्रूरमनसः सुज्ञो भूत्वाप्यगात्मजे॥ नारदः कूटवादी च परचित्तप्रमन्थकः। तस्य वार्ता श्रवणतो हानिर्भवति सर्वथा॥**' (२८—३०) अर्थात् पार्वतीजीके वचन सुनकर मुनि हँसकर बोले। ज्ञानवती होकर भी तुमने झूठे मानी पण्डित कठोर मनवाले नारदका चरित नहीं समझा, वह कूटवादी हैं, दूसरोंका चित्त मथन करनेवाले हैं। उनके वचनोंको सुननेमात्रसे ही हानि होती है। (२। ३। २५) *'गिरि संभव तव देह'* और *'नारद कर उपदेस सुनि''''''* में ये सब भाव भरे हुए हैं।

नोट—२ *'बसेउ किसु गेह'* में 'वक्रोक्ति अलंकार' है। काकुद्वारा यह अर्थ सूचित करते हैं कि किसीका घर न बसा, जिसको उपदेश दिया, उसका घर ही उजड़ गया। कामारिको पति पाकर क्या तुम्हारा घर कभी बसेगा? इसीके उत्तरमें पार्वतीजीने कहा कि *'बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ'* (८०) स्तुति-पक्षमें यह भाव कहा जाता है कि यह देह ही गेह (घर) है; यथा—*'जिव जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब*

तें देह गेह निज जान्यो॥' (वि० १३६) नारदजीके उपदेशसे यह देहरूपी घर रह ही नहीं जाता, देहाभिमान जाता रहता है, जीव अपना सहजस्वरूप पा जाता है जिससे वह मुक्त हो जाता है। (पं०)

दक्षसुतन्ह उपदेसिन्ह जाई। तिन्ह फिरि भवनु न देखा आई॥ १॥
चित्रकेतु कर घरु उन्ह घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥ २॥

शब्दार्थ—**घालना**=बिगाड़ना, नाश करना। यथा—*'जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।'* (७। ३९) *'आपु गए अरु घालहिं आनहिं।'* (७। ४०) **घर घालना**=घर बिगाड़ना; परिवारमें अशान्ति वा हानि पहुँचाना, नाश करना, चौपट करना।

अर्थ—उन्होंने जाकर दक्षके पुत्रोंको उपदेश दिया (जिससे) उन्होंने फिर लौटकर (घरका मुँह भी) न देखा॥ १॥ चित्रकेतुका घर उन्होंने ही चौपट किया। फिर हिरण्यकशिपुकी भी ऐसी ही दशा की॥ २॥

नोट—१ *'दक्षसुतन्ह'*······' इति। भाव कि दक्ष दक्ष ही हैं, बड़े चतुर हैं, सो उनके भी पुत्रोंको इन्होंने ऐसा बहकाया कि उनकी दक्षता कुछ काम न कर सकी। एक भी पुत्र न रह गया। सभी पुत्र पिताकी आज्ञाके प्रतिकूल चले, घर न लौटे। जब ऐसे चतुर दक्षका घर बिगाड़ डाला तब तुम क्या चीज हो, जड़ गिरिकी ही पुत्री हो। *'जाई'* का भाव कि प्रायः शिष्य ही गुरुके पास जाता है, परन्तु दक्षके पुत्र नारदके पास उपदेशके लिये नहीं आये थे, वे (नारद) स्वयं बिना बुलाये ही, बिना प्रयोजन उनके पास गये और उनको उपदेश दिया। भाव कि तुम्हारे पास भी तो अपने-आप ही आये थे, कोई बुलाने नहीं गया था। उनका यह स्वभाव है कि खोज-खोजके यही काम किया करते हैं। पुनः भाव कि नारद और दक्ष दोनों ही ब्रह्माके पुत्र हैं [४८ (६) देखिये], नारदजीका जब अपने आत्मीयोंमें यह हाल है, तब तुम तो परायी हो, तुमको भड़कानेमें उन्हें कब दया आने लगी? घरमें ही आग लगायी तब बाहरको कब छोड़ेंगे?

नोट—२ जोड़के श्लोक ये हैं—'······**नारदस्तत्र वै ययौ॥ कूटोपदेशमाश्राव्य तत्र तान्नारदो मुनिः। तदाज्ञया ते सर्वे पितुर्न गृहमाययुः॥**······**ददौ तदुपदेशं ते तेभ्यो भ्रातृपथं ययुः। आययुर्न पितुर्गेहं भिक्षुवृत्तिरताश्च ते॥**······**विद्याधरश्चित्रकेतुर्यो बभूव पुराकरोत्। स्वोपदेशमयं दत्त्वा तस्मै शून्यं च तद्‌गृहम्॥ प्रह्लादाय स्वोपदेशान्हिरण्यकशिपोः परम्। दत्त्वा दुःखं ददौ चायं परबुद्धिप्रभेदकः॥**' (२। ३। २५। ३३—४०) अर्थात् दक्षके सुतोंको दो बार ऐसा कूट उपदेश दिया कि फिर वे घर न गये, भिक्षावृत्ति-मार्ग ग्रहण कर लिया। उनके पास स्वयं जाकर उपदेश दिया। विद्याधर चित्रकेतुको वैराग्यका उपदेश देकर उसका घर सूना कर दिया। प्रह्लादको उपदेश देकर हिरण्यकशिपुद्वारा उसे बहुत दुःख पहुँचवाया। अतः वे दूसरोंकी बुद्धिके भेदक हैं।

नोट—३ स्तुति-पक्षका भाव—'उन्होंने फिर संसारमें भ्रमण न किया, पुनः जन्म न लिया, मोक्षमार्गकी राह ली, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता। यथा—'**पन्थानमनिवर्तनम्।**' (भा० ६। ५। २१) चित्रकेतु भी भगवान्‌को प्राप्त हुआ। चित्रकेतुका अज्ञान और देहाभिमान इन्होंने मिटाया, हिरण्यकश्यपु नृसिंहभगवान्‌के दर्शनसे कृतार्थ हुआ।' (पंजाबीजी)

नोट—४ दक्षपुत्रोंकी कथा—पञ्चजन प्रजापतिकी कन्यासे दक्षने विवाह करके उससे हर्यश्व नामक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। (मत्स्यपुराणमें १००० हजार पुत्र होना लिखा है—अ० ५ श्लोक ४—१२ में इसकी कथा है)। इन सबोंको दक्षने प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दे सृष्टि रचनेके लिये तपस्या करने भेजा। सिंधु नदी और समुद्रके संगमपर नारायणसर तीर्थ है। यहाँ आ स्नानकर वे तपस्यामें तत्पर हुए। उसी अवसरपर श्रीनारद मुनि वहाँ पहुँचे और यह विचारकर कि इनका हृदय अभी स्वच्छ है, ये भगवद्भजनके योग्य हैं, इनको उपदेश लगेगा, उनसे बोले कि—हे हर्यश्वो! तुमने भूमिका अन्त देखा है? बिना उसके

देखे सृष्टि कैसे करोगे? प्रजापति होकर भी तुम बड़े अज्ञ हो जो व्यर्थ तप कर रहे हो। हमारे प्रश्नका उत्तर दो कि तुमने ये पदार्थ देखे हैं—(१) वह देश जिसमें केवल एक ही पुरुष है। (२) एक बिल जिसमें जानेका मार्ग देख पड़ता है पर उससे निकलते किसीको नहीं देखा। (३) दोनों ओर बहनेवाली नदी (जो एक ओर उथली है और दूसरी ओर काटती है)। (४) पचीस पदार्थोंसे गठित अद्भुत घर। (५) विचित्र बोली बोलनेवाला हंस। (६) छुरा और वज्रसे रचित स्वयं घूमनेवाला चक्र। (७) बहुत रूप धरनेवाली स्त्री। (८) एक पुरुष जो पुंश्चलीका पति है। (९) पृथ्वीका अन्त। और यह भी बताओ कि तुम (१०) अपने सर्वज्ञ पिताकी आज्ञा जानते हो?

इन कूट वाक्योंको सुनकर हर्यश्वगणने उनका भाव अपनी बुद्धिसे यों विचारा कि 'यह लिङ्ग-शरीर राज्य है; जिसमें जीव ही एक पुरुष है। यही आत्माके बन्धनका अनादि कारण है। ईश्वर एक है, सबका साक्षी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वैश्वर्य-सम्पन्न और आप ही अपना आधार है। उसको बिना जाने और उसमें चित्त लगाये बिना सब कर्म व्यर्थ हैं। ब्रह्ममें लीन होनेपर पातालगत व्यक्तिके समान फिर कोई नहीं लौटता। अपनी बुद्धि ही वह स्त्री है। जैसे दुष्ट स्त्रीके संगसे पतिकी स्वाधीनता चली जाती है वैसे ही मायाके संगसे जीव ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया और उस मायाकी सुख-दुःख-रूप गतिका अनुगमन करता रहता है। उत्पत्ति और संहार करनेवाली माया नदी है। अन्तर्यामी पुरुष २५ तत्त्वोंका अद्‌भुत आश्रय है। ईश्वर-प्रतिपादक शास्त्रमें कर्म जिनसे बन्धन और जिनसे मोक्ष होता है कहे गये हैं, यही शास्त्र हंस है; स्वयं घूमनेवाला काल चक्र है जिसकी धार बड़ी तीक्ष्ण है। शास्त्र हमारा पिता है, निवृत्ति ही उसकी उपयुक्त आज्ञा है।' मनमें इस प्रकार निश्चय करके नारदजीकी परिक्रमा करके उस मार्गको चल दिये जहाँसे कोई न लौटता। (भा० स्क० ६ अ० ५ श्लोक १—२१)

इसके पश्चात् दक्षने फिर पञ्चजनकी कन्यासे सबलाश्व नामक १००० पुत्र उत्पन्न किये—(मत्स्यपुराणमें वीरण प्रजापतिकी कन्यासे शबला नामक १००० पुत्र होना लिखा है—'**हर्यश्वेषु प्रणष्टेषु पुनर्दक्षः प्रजापतिः। वैरिण्यामेव पुत्राणां सहस्त्रमसृजत्प्रभुः॥ शबला नाम ते विप्राः समेताः सृष्टिहेतवः॥**') और इनको भी सृष्टि रचनेके लिये तपस्या करनेको वहीं भेजा। श्रीनारदजीने इनसे भी वही प्रश्न किये और अन्तमें इन्हें उपदेश दिया कि तुम भी अपने भाइयोंकी रीति ग्रहण करो, उन्हींका अनुसरण करो। इन्होंने भी वैसा ही किया और घर लौटकर न गये। दक्षने जब यह समाचार पाया तो नारदपर बहुत कुपित हुए और उनसे बोले कि 'तू कपट-वेष धारण किये है, असाधु है, तूने मेरे धर्मनिष्ठ पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गपर भेज दिया……। प्रथम बार मेरे साथ असह्य दुष्टता की सो मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे सह ली। अब फिर तूने हमारे साथ वही अप्रिय व्यवहार किया, हमारा संतानोच्छेदरूपी अमंगल जो तुमने किया है इसको मैं क्षमा नहीं कर सकता' ऐसा कहकर नारदजीको शाप दिया कि 'तुम एक ठौर स्थिर न रहोगे, तीनों लोकोंमें घूमते-फिरते रहोगे, कहीं तुम्हारा पैर न ठहरेगा।' यथा—'**तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम्॥**' (भा० ६। ५। ४३) इसके पश्चात् दक्षने ६० कन्याएँ अपनी पत्नी असिक्नीसे उत्पन्न करके उन्हें ऋषियोंको व्याह दीं और इनके द्वारा सृष्टि रचने लगे।

नोट—५ 'चित्रकेतुकी कथा'—शूरसेन देशमें चित्रकेतु सार्वभौम राजा था। इसके एक करोड़ रानियाँ थीं—(बैजनाथजी और महाराज हरिहरप्रसादजी १६००० लिखते हैं।) परंतु न तो कोई पुत्र ही था और न कन्या ही। एक दिन श्रीअङ्गिरा ऋषिजी विचरते हुए राजाके यहाँ आ पहुँचे। राजाने प्रत्युत्थान, पाद्य, अर्घ्यद्वारा पूजनकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। राजासे कुशल-प्रश्न करते हुए ऋषिजीने कहा—'राजन्! तुम्हारा आत्मा कुछ असंतुष्ट-सा देख पड़ता है। किसी इष्ट पदार्थको अप्राप्तिसे दुःखित हो? तुम चिन्तित-से जान पड़ते हो, क्या कारण है?' राजाने अपना दुखड़ा सुनाया कि 'बिना एक पुत्रके मैं पूर्वजोंसहित नरकमें पड़ रहा हूँ, कृपा करके वह उपाय कीजिये जिससे पुत्र पाकर दुष्पार नरकसे उत्तीर्ण हो सकूँ।' मुनिने त्वाष्ट्र चरु तैयार कर उससे त्वष्टा देवताका पूजन कराया और राजाकी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ

पटरानी कृतद्युतिको उस यज्ञका अवशिष्ट अन्न देकर कहा 'इसे खा लो'। फिर राजासे कहा कि इससे एक पुत्र होगा, परंतु उससे तुमको हर्ष और शोक दोनों होंगे। ऋषि यह कहकर चले गये। पुत्र उत्पन्न होनेपर राजाने बहुत दान दिये। पुत्रवती होनेके कारण राजाकी प्रीति इस-रानीसे बढ़ती गयी जिससे और रानियोंके हृदयमें डाह होने लगा। वे सोचतीं कि हम दासियोंसे भी गयीं गुजरीं, हमसे अधिक मंदभागिनी कौन होगी। वे सवतका सौभाग्य न देख-सह सकती थीं। एक बार पुत्र सो रहा था, माता किसी कार्यमें लगी थी। सवतोंने अवसर पाकर बच्चेके ओठोंपर विषका फाया फेर दिया, जिससे उसके नेत्रोंकी पुतलियाँ ऊपर चढ़ गयीं और वह मर गया। इसकी माँको सवतोंके द्वेषका पता भी न था। बहुत देर होनेपर माताने धायसे राजकुमारको जगा लानेको आज्ञा दी, धायने जाकर देखा तो चीख मारकर मूर्छित हो गिर पड़ी। रानी यह देख दौड़ी, कोलाहल मच गया। रानी-राजा दोनोंका शोक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, महाशोकसे विलाप-प्रलाप करते हुए वे मोहके कारण मूर्छित हो गये।

ठीक इसी अवसरपर श्रीअङ्गिराऋषि और नारदजी वहाँ आ पहुँचे। महर्षि अङ्गिरा और नारदजी राजाको यों समझाने लगे कि—हे राजाओंमें श्रेष्ठ! सोचो तो कि जिसके लिये तुम शोकातुर हो वह तुम्हारा कौन है और पूर्वजन्ममें तुम इसके कौन थे और आगे इसके कौन होगे? जैसे जलके प्रवाहके वेगसे बालू (रेत) बह-बहकर दूर-दूर पहुँचकर कहाँ-से-कहाँ जा इकट्ठा हो जाती है, इसी प्रकार कालके प्रबल चक्रद्वारा देहधारियोंका वियोग और संयोग हुआ करता है। जैसे बीजमें कभी बीजान्तर होता है और कभी नहीं, वैसे ही मायासे पुत्रादि प्राणी पिता आदि प्राणियोंसे कभी संयोगको प्राप्त होते हैं और कभी वियोगको। अतएव पिता-पुत्र कल्पनामात्र हैं। वृथा शोक क्यों करते हो? हम, तुम और जगन्मात्रके प्राणी जैसे जन्मके पूर्व न थे और मृत्युके पश्चात् न रहेंगे, वैसे ही इस समय भी नहीं हैं" [भा० ६। १५। १०८]। राजाको ज्ञान हुआ, इस प्रकार कुछ सान्त्वना मिलनेपर राजाने हाथसे आँसू पोंछकर ऋषियोंसे कहा—'आप दोनों अवधूत-वेश बनाये हुए कौन हैं? आप ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं जो हम-सरीखे पागलोंको उपदेश देनेके लिये जगत्‌में विचरते रहते हैं। आप दोनों मेरी रक्षा करें। मैं घोर अन्धकारकूपमें डूबा पड़ा हूँ। मुझे ज्ञान-दीपकका प्रकाश दीजिये।' अङ्गिरा ऋषिने दोनोंका परिचय दिया और कहा कि—'तुम भगवान्‌के भक्त और ब्रह्मण्य हो, तुमको इस प्रकार शोकमें मग्न होना उचित नहीं। तुमपर अनुग्रह करनेहीको हम दोनों आये हैं। पूर्व जब मैं आया था तब तुमको अन्य विषयोंमें मग्न देख ज्ञानका उपदेश न दे पुत्र ही दिया, अब तुमने पुत्र पाकर स्वयं अनुभव कर लिया कि गृहस्थको कैसा संताप होता है। स्त्री, घर, धन और सभी ऐश्वर्य सम्पत्तियाँ यों ही शोक, भय, सन्तापको देनेवाली नश्वर और मिथ्या हैं। ये सब पदार्थ मनके विकारमात्र हैं, क्षणमें प्रकट और क्षणमें लुप्त होते हैं। इनमें सत्यताका विश्वास त्यागकर शान्ति धारण करो।' देवर्षि नारदजीने राजाको मन्त्रोपनिषद्-उपदेश किया और कहा कि इसके सात दिन धारण करनेसे संकर्षण-भगवान्‌के दर्शन होंगे। फिर सबके देखते नारद मुनि मरे हुए राजकुमारके जीवात्मासे बोले—'हे जीवात्मा! अपने पिता, माता, सुहृद्, बान्धवोंको देख। वे कैसे संतप्त हैं। अपने शरीरमें प्रवेशकर इनका संताप दूर कर। पिताके दिये हुए भोगोंको भोगो और राज्यसिंहासनपर बैठो।' लड़का जी उठा और बोला कि—'मैं अपने कर्मानुसार अनेक योनियोंमें भ्रमता रहा हूँ। किस जन्ममें ये मेरे पिता-माता हुए थे? क्रमशः सभी आपसमें एक-दूसरेके भाई, पिता, माता, शत्रु, मित्र, नाशक, रक्षक इत्यादि होते रहते हैं। ये लोग हमें पुत्र मानकर शोक करनेके बदले शत्रु समझकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे सोना, चाँदी आदिके व्यापारियोंके पास सोना-चाँदी आदि वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी अनेक योनियोंमें भ्रमता रहता है। जितने दिन जिसके साथ जिसका सम्बन्ध रहता है उतने दिन उसपर उसकी ममता रहती है। आत्मा नित्य, अव्यय, सूक्ष्म, स्वयं प्रकाशित है। कोई उसका मित्र वा शत्रु नहीं।' (भा० स्क० ६ अ० १४, १५। अ० १६। श्लोक १—११)। वह जीव फिर बोला कि मैं पाञ्चाल देशका राजा था, विरक्त होनेपर मैं एक ग्राममें गया। इस मेरी माताने भोजन बनानेके लिये मुझे कण्डा दिया, जिसमें अनेकों चींटियाँ

थीं (कोई-कोई कहते हैं कि फल दिया था; जिसमें चीटियाँ थीं)। संशोधन किये बिना मैंने आग लगा दी। वे सब चीटियाँ मर गयीं। मैंने शालग्रामदेवका भोग लगाकर प्रसाद पाया। वही चीटियाँ मेरी सौतेली माताएँ हुईं। प्रभुको अर्पण होनेसे एक ही जन्ममें सबने मुझसे बदला ले लिया, नहीं तो अनेक जन्म लेने पड़ते—*'प्रभु राखेउ श्रुति नीति अरु मैं नहिं पावा क्लेस।'* अब इस देहसे मेरा सम्बन्ध नहीं। *'यह सब माया कर परिवारा।'* इतना कह जीव शरीरसे निकल गया। राजाको ज्ञान प्राप्त हुआ। उसने राज्य छोड़ दिया। नारदमुनिने सङ्कर्षणभगवान्‌का मन्त्र दिया, स्तुतिमयी विद्या बतायी। सात दिन जप करनेपर शेषभगवान्‌का दर्शन हुआ। आपको एक विमान मिला, जिसपर चढ़कर आप आकाशमार्गपर घूमते थे। पार्वतीजीके शापसे वृत्रासुर हुए। भा० स्क० ६ अ० ९—१२ में वृत्रासुर और इन्द्रकी वार्ता आदि देखने योग्य है। (भक्तिसुधास्वाद भक्तमाल तिलक तृतीय आवृत्ति पृष्ठ १२५-१२६)

नोट-६ 'कनककशिपुकी कथा'—प्रह्लादजीकी माताको उपदेश दिया जिससे पिता-पुत्रमें विरोध हुआ। पिता मारा गया। विशेष दोहा २६ (४) में देखिये।

दैत्य बालकोंके पूछनेपर प्रह्लादजीने स्वयं यह वृत्तान्त यों कहा है। (भा० ७ अ० ७में यह वृत्तान्त दिया है)—हिरण्याक्षके मारे जानेपर जब मेरे पिता हिरण्यकशिपु मन्दराचलपर तप करनेके लिये गये तब अवसर पाकर देवताओंने दैत्योंपर चढ़ायी की। दैत्य समाचार पा जान बचाकर भागे, स्त्री-पुत्रादि सबको छोड़ गये। मेरे पिताका घर नष्ट कर डाला गया और मेरी माताको पकड़कर इन्द्र स्वर्गको चले। मार्गमें नारदमुनि विचरते हुए मिल गये और बोले कि 'इस निरपराधिनी स्त्रीको पकड़ ले जाना योग्य नहीं, इसे छोड़ दो।' इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें दैत्यराजका वीर्य है। पुत्र होनेपर उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा। तब नारदजी बोले कि यह गर्भ स्थित बालक परम भागवत है। तुम इसको नहीं मार सकते। इन्द्रने नारदवचनपर विश्वास करके मेरी माँकी परिक्रमा करके उसे छोड़ दिया। नारदजी उसे अपने आश्रममें ले गये। वह गर्भके मङ्गलकी कामनासे नारदमुनिकी भक्तिपूर्वक सेवा करती रही। दयालु ऋषिने मेरे उद्देश्यसे मेरी माताको धर्मके तत्त्व और विज्ञानका उपदेश किया। ऋषि-अनुग्रहसे वह उपदेश मैं अबतक नहीं भूला।

नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥ ३॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥ ४॥

अर्थ—पुरुष (हो या) स्त्री जो भी नारदकी सीख (सिखावन, उपदेश, शिक्षा) सुनते हैं वे घर-बार छोड़कर अवश्य भिक्षुक हो जाते हैं॥ ३॥ (उनका) मन (तो) कपटी है और शरीरपर सज्जनोंके चिह्न हैं। वे सबको अपना-सा (अपने समान) बनाना चाहते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक तीन उदाहरण दिये। दक्ष, चित्रकेतु और हिरण्यकशिपुके। तीन उदाहरण देनेका भाव कि तीन बहुवचन है। तीन उदाहरण देकर जनाया कि ये तो लोक पीछे एक-एक उदाहरण हमने दिया। (दक्षसुत स्वर्गके, चित्रकेतु मर्त्यलोकके और हिरण्यकशिपु पातालके। पर हिरण्यकशिपुकी राजधानी मुलतान कही जाती है जो भारतवर्षमें है। इससे यह आशय समझ पड़ता है कि लोक तीन हैं; इसलिये तीन उदाहरण दिये गये।) इनके अतिरिक्त बहुतेरोंको उपदेश दे-देकर घर उजाड़ डाला। (ख) ये तीनों उदाहरण पुरुषोंको बहकानेके हुए। इसीसे फिर कहते हैं कि *'नारद सिख जे सुनहिं नर नारी'*। अर्थात् स्त्रियोंको भी बहकाते हैं जिनमेंसे एक तुम भी हो जिन्हें उपदेश दिया। इस प्रकार जनाया कि तीनों लोकोंके निवासियोंको चौपट करते हैं। पुनः, [*'नर नारी'* कहनेका भाव कि पहले जिनको उपदेश दिया उनमें दो दक्षसुत और चित्रकेतु तो पुरुष थे और हिरण्यकशिपुकी स्त्रीको उपदेश देकर हिरण्यकशिपुको चौपट किया। वैरागी पुत्र उत्पन्न हुआ जो अपनी माँके वैधव्यका कारण हुआ। यह उदाहरण स्त्रीको सीख देनेका है। अतः *'नर नारी'* कहा।]

नोट—१ (क) *'जे सुनहिं'* इति। भाव कि ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं है जिसमें उनका उपदेश सुननेसे घर न बिगड़ा हो। तुमने भी सुना; इसीसे घर छोड़ वनमें पड़ी हो, राजभोग-ऐश्वर्य छोड़

भिखारिनी तपस्विनी बनी हो। पुनः भाव कि उपदेश श्रवणमात्रका यह फल होता है और तुमने तो इतना कर भी डाला। (ख)—'*अवसि*'=अवश्य ही। अर्थात् इसमें संदेह नहीं है '*भिखारी होहिं*' का साधारण अर्थ यही है कि द्वार-द्वार उन्हें भीख माँगनी पड़ती है, दुःख उठाना पड़ता है। देख न लो, तुम्हारा घर छुड़ाया, तपके बहाने वनमें भेजवाया और तप भी किस लिये ?—'भिखारीसे विवाह करानेके लिये।' तब तुम्हारे भिखारिनी होनेमें क्या संदेह रह गया? मिलान कीजिये—'**असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः।**' (भा० ६। ५। ३६) (दक्षने नारदजीसे कहा है कि तुमने स्वधर्मपरायण मेरे पुत्रोंको भिक्षुओंके मार्गका उपदेश दिया)। स्तुतिपक्षमें '*भिखारी*' से संसारसे विरक्त हो जाना कहा।

नोट—२ '*मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।*' इति। '*कपटी*' अर्थात् मनमें कुछ है और बाहर दिखानेको कुछ और ही है। '*कपटी*' कहकर दूसरे चरणमें कपटका कारण कहते हैं कि '*आपु सरिस सबही चह कीन्हा।*' अर्थात् चाहते हैं कि जैसे हम घरबाररहित हैं, वैसे ही किसीके भी घरबार न रह जाय। बसा-बसाया घर देख उसे उजाड़नेकी टोहमें लगे रहते हैं। सृष्टिकी बढ़ती नहीं देख सकते। '*उजरे हरष बिषाद बसेरे*' मेनाजीने भी यही कहा है; यथा '*नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥"""पर घर घालक लाज न भीरा।*' (९७। १—४) '*तन सज्जन चीन्हा*' अर्थात् ऊपरसे तिलक, कंठी, माला, वीणा, हरिगुणगान आदि सज्जनोंके-से चिह्न बनाये रहते हैं। सज्जन बिछुड़े हुओंको मिलाते हैं और ये मिले हुओंको छुड़ाते हैं। (वै०) '*आपु सरिस*' अर्थात् बिना स्त्री और घरका। यथा '*साँचेहु उन्ह के मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया।*' (९७। ३)

नोट—३ जोड़के श्लोक—'**मुनिना निजविद्या यच्छ्राविता कर्णरोचना। सा स्वगेहं विहायाशु भिक्षां चरति प्रायशः॥ नारदो मलिनात्मा हि सर्वदोज्ज्वलदेहवान्। जानीमस्तं विशेषेण वयं तत्सहवासिनः॥**' (शि० पु० २। ३। २५। ४१-४२) अर्थात् जिस-जिसने उनका कर्णरोचक उपदेश सुना वह-वह घर छोड़ भिक्षावृत्तिपरायण हो गया। वे देखनेमें बगला-सरीखे उज्ज्वल देहवाले हैं, पर उनका मन मलिन है। हम सहवासी हैं, इससे सब जानते हैं।

नोट—४ सप्तर्षि अपने वचनोंसे सुझाते हैं कि नारदजी मन, वचन और तन तीनोंसे पराया घर बिगाड़नेमें लगे रहते हैं। '*मन कपटी*' से मन '*सिख*' से वचन और '*तन सज्जन चीन्हा*' से तन वा कर्म—इस तरह तीनोंसे धोखा देकर बहकाकर बिगाड़ना कहा। पुनः भाव कि उनके वचनोंमें तो वैराग्य भरा रहता है, मनमें कपट रहता है और तनमें सज्जन-चिह्न अर्थात् ऋषि-वेष बनाये रहते हैं—यह अवगुणी दुरात्माओंके लक्षण हैं; यथा—'*बरन धरमु गयो, आश्रम निवास तज्यो, त्रासन चकित सो परावनो परो सो है। करम उपासना कुबासना बिनास्यो, ज्ञान बचन, बिराग बेष जगत हरो सो है॥""*' (क० उ० ८४) पुनश्च यथा—'**वचस्यन्यन्मनस्यन्यत्कार्यमन्यद्दुरात्मनाम्।**' अर्थात् दुरात्माओंके मनमें कुछ, वचन कुछ और कार्य कुछ और होता है। दक्षने भी कहा है कि तुम ऊपरसे साधुवेष धारण किये भीतरसे दूसरेका बुरा चेतते हो, यथा '**अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया।**' (भा० ६। ५। ३६) (पं० रा० कु०)। (ग) स्तुति-पक्षके भाव कि संसारकी ओरसे मन हटाकर भगवद्भक्त बना देते हैं।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥५॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबरु ब्याली॥६॥

अर्थ—(सो) उसके वचनोंपर विश्वास मानकर तुम (ऐसेको) पति बनाना चाहती हो जो जन्मसे ही स्वाभाविक ही उदासीन है॥ ५॥ गुणहीन, निर्लज्ज, बुरे वेषवाला, प्रेतों और मनुष्योंकी खोपड़ियोंकी माला पहननेवाला (मुण्डमालधारी), कुलहीन, घरबार रहित, नंगा और सर्पोंको सारे शरीरमें लपेटे रहनेवाला है॥ ६॥

नोट—१ '*तेहि के बचन""*' इति। (क) भाव कि कपटी, अवगुणी, मोहमाया, दयारहित मनुष्य विश्वास करने योग्य नहीं होता, तुमने ऐसे मनुष्यका विश्वास कैसे कर लिया? यहाँतक

उपदेष्टाकी निन्दा की। आगे वरकी निन्दा करते हैं। (ख) पार्वतीजीने पहले नारदवचनको सत्य मानना कहा था तब शिवजीको पतिरूपमें वरण करनेकी बात कही थी; यथा *'नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह……। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा॥'* अतः उसी क्रमसे ऋषियोंने प्रथम उपदेष्टाकी निन्दा की, (यदि पार्वतीजी इसे सुनकर नारदवचनको असत्य मान लेतीं तब तो आगे कहनेकी आवश्यकता ही न रह जाती), तब वरकी।

नोट—२ *'तुम्ह चाहहु पति……ब्याली'* इति। नारदजीने जो वरके लक्षण बताये थे, उनसे मिलान कीजिये—

नारद	सप्तर्षि	नारद	सप्तर्षि	नारद	सप्तर्षि
१ अगुन २ अमान ३ मातुपितुहीना	निर्गुण निलज्ज अकुल	४ उदासीन ५ संशयक्षीण ६ जोगी ७ अकाम मन	सहज उदास अगेह सहज उदास	८ नग्न ९ अमंगल बेष जटिल	दिगम्बर ब्याली कुवेष, कपाली

पार्वतीमंगलमें गोस्वामीजीने इसीको बरवै छन्दमें यों लिखा है—*'कहहु का सुनि रीझेहु बर अकुलीनहिं। अगुन अमान अजात मातु-पितु-हीनहिं॥'*—जिसके अनुसार 'अकुल' का अर्थ 'अकुलीन' या 'अजाति' होना पाया जाता है। *'सहज उदासा'* और *'अगेह'* कहकर जनाया कि उनको किसीका घर नहीं भाता, कहीं नदी-तटपर श्मशानमें पड़े रहते हैं जैसी उदासियोंकी रीति है; यथा *'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ज्ञानरत मुनि संन्यासी।'* (७।२९) क्योंकि वहाँ सदा मृतक शरीरोंको देखते रहनेसे आत्मबुद्धिका विस्मरण नहीं होने पाता। 'निर्गुण'से जनाया कि वर होने योग्य उनमें एक भी गुण नहीं है। भाँग, धतूरा आदि खाते हैं। तुम उत्तम शीलादि गुणोंसे युक्त हो तब निर्गुणी तुम्हारे योग्य कैसे हो सकता है? 'निलज' (निर्लज्ज) हैं अर्थात् भूत, प्रेत, पिशाच, पिशाचिनियोंके साथ नंगे नाचते हैं, पिशाचियोंको घूरते हैं; ऐसेके साथ तुम भी लज्जित होगी। *'कुवेष'* से चिताकी अपवित्र भस्म लगाये, पञ्चमुख, तीन नेत्र, जटाधारी, गज-व्याघ्रचर्मधारी (व्याघ्रचर्म पहने और गजचर्म ओढ़े) इत्यादि सब कहे। *'कपाली'* हैं अर्थात् मनुष्यों, प्रेतों और सतीके मरनेपर सतीके भी मुण्डोंकी माला धारण करते हैं। प्रेतोंकी मुण्डमाला धारण करनेका प्रमाण; यथा—**'प्रेतस्त्रङ्नस्थिभूषणः।'**(भा० ४। २। १५) *'अकुल'* हैं अर्थात् उनके माँ-बापका ठिकाना नहीं, वे अकुलीन हैं तब कुलीन पुरुषोंके साथ वे बैठ नहीं सकते। अथवा, कुल नहीं है, तुम्हारे सास, श्वशुर, ननद, भौजाई इत्यादि कोई भी नहीं है, ऐसा घर किस कामका है? *'अगेह'* हैं, घर नहीं है; अर्थात् वहाँ तुम्हारे रहनेका कहीं ठिकाना नहीं, तब फिर रहोगी कहाँ? *'दिगम्बर'* हैं, उनके पास कपड़ा भी नहीं, तब तुम्हें ओढ़ने-पहननेको कहाँसे मिलेगा? *'ब्याली'* हैं? अर्थात् सर्पोंको सब अङ्गोंमें लपेटे रहते हैं, नागराज वासुकिको यज्ञोपवीतरूपमें धारण किये रहते हैं और इसी रूपमें वे पृथ्वीपर भ्रमण करते रहते हैं। सबका आशय यह हुआ कि विवाह घर, वर और कुल देखकर किया जाता है, सो ये तीनों ही बातें प्रतिकूल हैं। न घर अच्छा, न कुल और न वर ही अच्छा। विशेष दोहा ७९ (७) में देखिये।

नोट—३ श्रद्धेय शिवजीके विषयमें मुनियोंका अयथार्थ घृणा प्रदर्शित करना 'बीभत्स रसाभास' है (वीरकवि)। ☞ स्तुतिपक्षमें ये सब विशेषण गुण हैं। यहाँतक देवर्षि नारद तथा योगीश्वर शिवजीके विषयमें जो बातें कही गयी हैं, उनके स्तुतिपक्षके भाव यहाँ एकत्र दिये जाते हैं—

वचन	निन्दा-पक्षमें भाव	स्तुति-पक्षमें भाव
'गिरि संभव तव देह	गिरि जड़ है, तुम उसकी पुत्री हो; इससे तुम्हारी बुद्धि भी जड़ हुआ ही चाहे, कि तुम नारदके वचनपर हठ कर बैठी हो।	गिरि परोपकारी वैसे ही तुम भी हो, वह गम्भीर वैसे ही तुम भी हो। परम पवित्र हो (पं०)
बसेउ किसु गेह	किसका घर बसा? सबको उन्होंने उजाड़ दिया, घरका नाश कराया। कामारिको पति पाकर क्या तुम्हारा घर बसेगा? शैलराजका घर भी उजड़ेगा।	यह देह ही घर है, यथा '*जिव जब ते हरि ते बिलगानेउ। तब तें देह गेह निज जानेउ।*' नारदजीके उपदेशसे फिर यह देहरूपी घर रह ही नहीं जाता, देहाभिमान छूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। (पं०)
तिन्ह फिरि भवन न देखा	घर लौटकर न आये। दक्षका घर उजड़ गया।	उन्होंने फिर संसारमें भ्रमण न किया, पुनः जन्म न लिया।
चित्रकेतु कर घर घाला	वंश ही न रह गया।	(जन्मान्तर-वृत्रासुररूपमें) चित्रकेतु भी भगवान्‌को प्राप्त हो गये। नारदने उनका अज्ञान और देहाभिमान मिटा दिया।
कनककसिपु कर अस हाला	उसको मरवा ही डाला। बाप-बेटेमें विरोध करा दिया।	हिरण्यकशिपु नृसिंहजीके दर्शनसे कृतार्थ हुए भगवत्प्राप्त हुए।
अवसि होहिं······ भिखारी	रोटीके लाले पड़ जाते हैं। टुकड़े माँगते-फिरते हैं।	घर छोड़ विरक्त संन्यासी हो जाते हैं, मिथ्या सम्पदा त्यागकर शमदमादिकसे सम्पन्न हो जाते हैं। संसारसे मनको कपट लेते हैं, दूसरेको भी सज्जन बना लेते हैं।

☞ शिवपुराणके जोड़के श्लोक—'**लब्ध्वा तदुपदेशं हि त्वमपि प्राज्ञसम्मता। वृथैव मूर्खीभूता त्वं तपश्चरसि दुष्करम्॥ यदर्थमीदृशं बाले करोषि विपुलं तपः। सदोदासी निर्विकारो मदनारिर्न संशयः॥ अमंगलवपुर्धारी निर्लज्जोऽसदनोऽकुली। कुवेषी भूतप्रेतादिसंगी नग्नो हि शूलभृत्॥**' (२। ३। २५। ४४—४६) अर्थात् तुम विदुषी होकर भी उनका उपदेश पाकर मूर्खा होकर व्यर्थ ही कठिन तप कर रही हो। जिसके लिये तुम कठिन तप कर रही हो वह कामारि सदा उदासी, निर्विकार, अमङ्गलवपुधारी, निर्लज्ज, अगेह, अकुली, कुवेषवाला, भूतप्रेतोंका साथ करनेवाला, नग्न और त्रिशूलधारी है। ☞ सदा उदासी, निर्लज्ज, कुवेषी, अकुली, अगेह और नग्न तो स्पष्ट ही मानसमें हैं। मानसके निर्गुण, कपाली और व्यालीके बदले शिवपुराणमें निर्विकार, अमङ्गलवपुधारी, भूतप्रेतादिसङ्गी और शूलभृत् हैं।

नोट—४ शिवजीके विशेषणोंके साधारण ऊपरी भाव कुछ ऊपर नोटमें दिये गये और कुछ अगली चौपाई '*कहहु कवन सुख अस बर पाए*' में दिये जायँगे। स्तुतिपक्षके भाव कुछ पूर्व '*जोगी जटिल अकाम मन*······।' (६७) में दिये गये हैं और कुछ यहाँ पुनः दिये जाते हैं।—'*सहज उदासी*' अर्थात् कोई शत्रु-मित्र नहीं, विषय-वासना छू भी नहीं गयी, अतः परमभक्त हैं। '*कुवेष*' अर्थात् पृथ्वीपर ऐसा वेष किसीका नहीं है। कु=पृथ्वी। 'व्याली' अर्थात् शेषजीको सदा भूषणसरीखा धारण किये रहते हैं, यथा '*भुजगराज भूषण*', '*लसद् भाल बालेंदु कंठे भुजंगा*'— ऐसे सामर्थ्यवान् और भगवान्‌के कीर्तनरसिकके सङ्गी। '*कपाली*' अर्थात् जिनकी समाधि कपाल अर्थात् दशमद्वारमें रहती है। निर्गुण=गुणातीत। अकुल अर्थात् अजन्मा हैं। '*दिगम्बर*' और '*अगेह*' से परम विरक्त संत जनाया। '*निलज*' से अमान अभिमानरहित जनाया, यह भी संतलक्षण है।—इस प्रकार यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ। भल भूलिहु ठग कें बौराएँ॥ ७॥
पंच कहें सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही॥ ८॥

शब्दार्थ—**भूलना**=गलती करना, धोखेमें पड़ जाना; लुभा जाना, चुकना। **पंच**=पाँच या अधिक लोगोंका समुदाय, जो कोई झगड़ा निबटानेके लिये एकत्र हों।=जनता=लोग। =लोग। **अवडेर** (अव+रार वा राड़)='झमेला, झंझट, बखेड़ा' (श० सा०)। अवडेरना न बसने देना; न रहने देना; यथा '*भोरानाथ भोरे हो सरोष होत थोरे दोष पोषि तोषि थापि अपनो न अवडेरिये।*' (बाहुक)=चक्करमें डालना, फेरमें डालना, फँसाना। (श० सा०) **अवडेरा**=घुमाव-फिराववाला, चक्करदार, बेढब। कुढब। (श० सा०) पुनः, '**अवडेरि**'=त्याग-कर। (पाँ०) सुना जाता है कि पहलवानोंमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। कोई दाँव या पेंच करके जोड़ीको फाँसा जाता है जिसे अवडेरा कहते हैं। **मराएन्हि**=मरवा डाला।

अर्थ—भला, कहो तो सही, ऐसा वर पाकर तुमको कौन-सा सुख होगा? तुम उस ठग-(नारद-)के पगलाने-बहकानेमें खूब ही भूलीं (भटक गयीं)॥ ७॥ लोगोंके कहनेसे (पहले तो) शिवजीने सतीजीसे विवाह किया, फिर फेरेमें डालकर या त्यागकर उनको मरवा डाला॥ ८॥

नोट—१ '*कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ*' इति। भाव कि 'संसारमें दो प्रकारका सुख देखा जाता है—एक तो वह है जिसका सम्बन्ध शरीरसे होता है और दूसरा वह जो मनको शान्ति एवं आनन्द प्रदान करनेवाला होता है। यदि तुम अपने शरीरके लिये नित्य सुखकी इच्छा करती हो तो तुम्हें ब्याली, कपाली, दिगम्बर, निलज, घृणित वेषमें रहनेवाले, भूतप्रेतोंके सङ्गी महादेवसे वह सुख कैसे मिल सकता है? वे ब्याली हैं, फुफकारते हुए भयंकर भुजङ्गोंको आभूषणरूपमें धारण करते हैं, अगेह हैं इसीसे श्मशानभूमिमें रहते हैं और रौद्ररूपधारी प्रमथगण सदा उनके साथ लगे रहते हैं। जिस वरको तुम चाहती हो उसके पानेहीमें बहुत क्लेश है और यदि कदाचित् प्राप्त भी हो जाय तो वह निष्फल वृक्षके समान है—उससे तुम्हें सुख नहीं मिल सकता। दूसरे किसी देवताके पानेसे तुम्हें मानसिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इस वरसे कदापि नहीं।'

नोट—☞२ मिलान कीजिये पार्वतीमङ्गलके बटुरूपधारी शिवजीके वाक्योंसे—

'कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहिं। अगुन अमान अजाति मातु-पितु-हीनहिं।
भीख माँगि भव खाहिं चिता नित सोवहिं। नाचहिं नगन पिसाच पिसाचिनि जोवहिं॥ ३१॥
भाँग धतूर अहार छार लपटावहिं।'............
सुमुखि सुलोचनि! हर मुखपंच तिलोचन। बामदेव फुर नाम काम-मद-मोचन॥ ३२॥
एकउ हरहि न बर गुन कोटिक दूषनु। नर कपाल गज, खाल ब्याल बिष भूषनु।
कहँ राउर गुन सील सरूप सुहावन। कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥ ३३॥
जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि। कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरहि।
हिय हेरि हठ तजहु हठै दुख पैहहु। ब्याह समय सिख मोरि समुझि पछितैहहु॥ ३४॥

उपर्युक्त सारा उद्धरण '*कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ*' का भाव ही है।

टिप्पणी—१ (क) '*कहहु कवन सुखु अस बरु पाएँ*' अर्थात् तुम्हीं कहो, ऐसा वर मिलनेसे क्या सुख मिलेगा, कुछ भी तो नहीं। भाव कि सहज ही उदासीन होनेसे तुमको पतिका सुख नहीं; निर्गुण-निर्लज्ज होनेसे जाति-पाँतिमें प्रतिष्ठा-मानका सुख नहीं; कुवेष-कपाली होनेसे सङ्गका सुख भी नहीं; अकुल-अगेह होनेसे कुल और घरका सुख नहीं, दिगम्बर होनेसे खान-पान, ओढ़ने-पहननेका भी सुख नहीं और ब्याली होनेसे डर ही लगा रहेगा। भाव कि विवाह घर, वर और कुल देखकर किया जाता है सो ऐसे वरसे कोई सुख नहीं होनेका, न घरका, न पतिका, न कुलका, न खान-पानका, न ओढ़ने-पहिननेका। (ख) '*भल भूलिहु ठग कें बौराए*' इति। [ठगलोग बहुधा नशेके मादकमिश्रित पदार्थ लोगोंको

खिलाकर बावला बनाकर यात्रियोंको ठग लिया करते हैं। वैसे ही नारदने *'संभु सहज समरथ भगवाना। एहि बिबाह सब बिधि कल्याना॥'* इत्यादि वचनरूपी विषमिश्रित मोदक देकर तुमको ठग लिया। हजारों वर्ष तनको तपस्यासे कष्ट दिया, इसीसे *'भल भूलिहु'* कहा। पुनः भाव कि उनके चक्करमें पड़ना न था पर तुम पड़ गयीं।

नोट—३ मिलानके श्लोक—'**स धूर्तस्तव विज्ञानं विनाश्य निजमायया। मोहयामास सद्युक्त्या कारयामास वै तपः॥ ईदृशं हि वरं लब्ध्वा किं सुखं सम्भविष्यति। विचारं कुरु देवेशि त्वमेव गिरिजात्मजे॥ प्रथमं दक्षजां साध्वीं विवाह्य सुधिया सतीम्। निर्वाहं कृतवान्नैव मूढः किंचिद्दिनानि हि॥ तां तथैव स वै दोषं दत्त्वात्याक्षीत्स्वयं प्रभुः।**' (शिवपु० २। ३। २५। ४७। ५०) अर्थात् उस धूर्तने अपनी मायासे तुम्हारा विज्ञान नष्ट कर दिया और मीठी-मीठी बातोंसे तुमको मोहितकर तपमें लगा दिया। भला तुम्हीं विचार करो कि ऐसा वर पानेसे क्या सुख मिलेगा? पहले दक्षकी साध्वी कन्या सतीसे विवाह किया पर मूढ़ने थोड़े दिन भी उसका निर्वाह न किया वरंच उसे दोष लगाकर त्याग दिया।

मानसके *'ठग'* का भाव पूरा श्लोक ४७ है। '**दोषं दत्त्वात्याक्षीत्**' और '**निर्वाहंहि**' का सब भाव *'अवडेरि मराएन्हि'* में है।

नोट—४ (क) *'पंच कहें सिव सती बिबाही।'*...... इति। भाव कि यदि कहो कि पूर्व भी तो उनके स्त्री थी, पहले भी तो विवाह किया था, तब तुमने क्यों न रोका था, अब हमको ही क्यों मना करते हो? उसपर कहते हैं कि—*'पंच कहें'*...... ' अर्थात् शिवजी तो परम विरक्त हैं, जन्मस्वभावसे ही उदासीन हैं। वे ब्याह न करते थे। देवताओंने मिलकर जबरदस्ती विवाह करवा दिया था। परंतु उसका परिणाम क्या हुआ? उन्होंने दाँव-पेंच लगाकर उसे मरवा ही डाला। प्रथम तो उसके बापका अपमान करके उसको शत्रु बना दिया, फिर उसे दण्डकारण्यमें ले गये। वहाँसे लौटते समय स्वयं ही उसको श्रीरामजीकी परीक्षा लेने भेजा और परीक्षा लेनेपर उस बेचारीको दोष लगाकर त्याग दिया तथा बापके घर भेजकर उसे मरवा डाला—यही भाव *'पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही'* का है। आशय यह कि उस विवाहसे हम सबोंको अनुभव हो गया। इसीसे तुम्हें मना करते हैं। नहीं तो जैसी दशा सतीकी हुई वैसी ही तुम्हारी भी होगी। पीछे हमारी शिक्षा स्मरण करके पछताओगी। (ख) *'पंच कहें'* इति। पद्मपुराणसृष्टिखण्डमें सतीजीके जन्मके पूर्वकी कथा तथा विवाह-तिथि आदिका प्रसङ्ग पुलस्त्यजीने भीष्मजीसे यों कहा है—पूर्वकालमें भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा महर्लोक आदि सम्पूर्ण लोक दग्ध हुए, तब समस्त प्राणियोंका सौभाग्य एकत्रित होकर वैकुण्ठमें जाकर भगवान्‌के वक्षःस्थलमें स्थित हो गया। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् जब पुनः सृष्टिरचनाका समय आया, तब प्रकृति और पुरुषसे युक्त सम्पूर्ण लोकोंके अहङ्कारसे आवृत हो जानेपर श्रीब्रह्माजी तथा भगवान् श्रीविष्णुमें स्पर्धा जागृत हुई। उस समय एक पीले रंगकी भयंकर अग्निज्वाला प्रकट हुई, जिससे भगवान्‌का वक्षःस्थल तप उठा और वह सौभाग्यपुञ्ज वहाँसे गलित हो गया। भगवान्‌के वक्षःस्थलका वह सौभाग्य अभी रसरूप होकर धरतीपर गिरने नहीं पाया था कि ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने उसे आकाशमें ही रोककर पी लिया। उस सौभाग्यके अंशसे उन्हें नीलकमल-समान मनोहर शरीरवाली सती नामक कन्या उत्पन्न हुई, जो 'ललिता' नामसे भी प्रसिद्ध है। शङ्करजीने तीनों लोकोंकी सौभाग्यरूपा त्रिभुवन-सुन्दरी, भोग और मोक्षकी देनेवाली सतीके साथ चैत्र शुक्ल तृतीयाको विवाह किया। (अध्याय २४) कालिकापुराणमें लिखा है कि ब्रह्माजी और भगवान् विष्णुने सृष्टि-स्थितिके लिये अपनी-अपनी शक्तिको ग्रहण किया, पर शिवजीने शक्तिसे संयोग न किया किंतु योगमें मग्न हो गये। ब्रह्मादि देवता इस बातके पीछे पड़े कि शिवजी भी किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करें पर उनके योग्य कोई स्त्री न मिली। ब्रह्माकी आज्ञासे दक्षने विष्णुमायाको कन्यारूपमें प्राप्त करनेके लिये उसकी स्तुति की। वह माया सतीरूपमें उनकी कन्या हुई। जिसने अपने रूप और तपस्याद्वारा शिवजीको मोहित और प्रसन्न किया। इस तरह देवताओंके

बड़े यत्न करनेपर शिवजीने सतीसे ब्याह किया। भागवतमें जो दक्षने कहा है कि मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे अपनी भोली-भाली कन्या इसे ब्याह दी; यथा—'**तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे। दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना॥**' (४ २। १७) इससे भी यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मादि देवताओंने बलात् शिवजीका ब्याह कराया। अतएव '***पंच कहें सिव सती बिबाही॥***' कहा। ब्रह्मादि देवता ही '**पंच**' हैं। स्कन्दपु० मा० के०१ में भी लोमशजीने कहा है कि परमेष्ठी ब्रह्माजीके कहनेसे दक्षने सतीका विवाह शङ्करजीके साथ कर दिया था।

दो०—अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह कें भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं॥७९॥

शब्दार्थ—एकाकी=अकेला रहनेवाला। अकेला। यथा '***कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥***'(२। २२८)। **खटाना**=निर्वाह होना, निभना, टिकना।

अर्थ—अब शिवजी सुखसे (अर्थात् सुखकी नींद) सोते हैं। उनको कोई चिन्ता नहीं रह गयी। भीख माँगकर खा लेते हैं। भला स्वभावसे ही अकेले रहनेवालेके घरमें कभी स्त्रीका निर्वाह हो सकता है? (कदापि नहीं)॥७९॥

टिप्पणी—१ (क) '***अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख माँगि भव खाहिं॥***' इति। अर्थात् अब बेफिक्रीकी नींद लेते हैं। तात्पर्य कि जबतक सतीजी जीवित रहीं तबतक उनके कारण सोच रहा; अब उनके मर जानेसे निःशोच, निश्चिन्त हो गये। चिन्तारहित होनेसे 'पैर पसार' कर सोते हैं, यही सुखसे सोना है; यथा '***जागै भोगी भोगहीं, बियोगी रोगी रोगबस, सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।***' (क० ७। १०९) '***प्रसाद राम नामके पसारि पायँ सूतिहौं।***' (क० उ० ६९) पुनः, '***सोचु नहि***' का स्वरूप '***भीख माँगि खाहिं***' में भी बताया। इधर-उधरसे भिक्षा कर लेते हैं, बनी-बनायी जहाँ मिली खा लिया, घरमें चूल्हेकी जरूरत न रह गयी। (ख) '***सहज एकाकिन्ह कें भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं***' अर्थात् जो सदा अकेले रहा है, जिसकी आदत अकेले रहनेकी पड़ी हुई है, उसको दूसरेका सङ्ग कब अच्छा लगेगा? कभी नहीं। उसपर भी स्त्रीका साथ? उसका निर्वाह तो असम्भव ही है। पुरुष हो तो चाहे निबह भी जाय। स्त्री तो रोज हाय-हाय मचाया करेगी; [☞पार्वतीमङ्गलके ७९(७-८) में दिये हुए उद्धरणसे मिलान कीजिये। (ग) यहाँ काकुद्वारा वक्रोक्ति अलङ्कार है। 'पूज्यदेव' श्रीमहादेवजी और नारदजीके कर्मोंका उपहास वर्णनक्रिया 'हास्यरसाभास' है'—(वीरकवि) (घ) स्तुतिपक्षमें अर्थ होगा कि जिसकी भिक्षा लेते हैं, उसके 'भव' अर्थात् जन्म-मरण वा संसारको खा लेते हैं, हर लेते हैं, फिर आवागमन नहीं होने देते, मुक्ति दे देते हैं। भिक्षा '***आकपात आखत अति थोरे***' इत्यादि ही है। '***सुख सोवत***' अर्थात् सदा तुरीयावस्थामें रहते हैं, आनन्दस्वरूप हैं।]

नोट—१ ऐसा ही शिवपुराणमें है। यथा '**ध्यायन्स्वरूपमकलमशोकमरमत्सुखी। एकलः परनिर्वाणो ह्यसंगोऽद्वय एव च॥ तेन नार्याः कथं देवि निर्वाहः सम्भविष्यति।**' (२। ३। २५। ५०-५१)। ☞ '***सुख सोवत***' का भाव '**ध्यायन्**' में है। अर्थात् सुखपूर्वक अकल एवं अनुपम रूपका ध्यान करते हुए अशोक हो रमण करते हैं। उत्तरार्द्धमें श्लोक ५१ का भाव है।

नोट—२ पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी ७९ (५-८) इत्यादिके सम्बन्धमें 'हास्यरस' में लिखते हैं कि 'सहज उदासी, निर्गुण, कपाली, दिगम्बर, ब्याली, सोवत सोचु नहिं और सहज एकाकी' इन शब्दोंके हास्य व्यङ्गयकी प्रशंसा कठिन है। एक ओर यह हास्यप्रद शिववेष प्रकट करते हैं और दूसरी ओर सदाशिवकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या करते हैं—यह तुलसीदासजीकी काव्यकलाका कमाल है कि हास्यरसको भी महाकाव्यकलामें निबाहा है। मिल्टन (Milton) की कला इसके अभावमें रूखी है। यह दुभाषीपन ही इन शब्दोंका जौहर है।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा॥ १॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जसु लीला॥ २॥
दूषनरहित सकल गुनरासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥ ३॥
अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी। सुनत बिहसि* कह बचन भवानी॥ ४॥

अर्थ—अब भी हमारा कहना मान लो। हमने तुम्हारे लिये अच्छा वर सोचा-विचारा है॥ १॥ (जो) बहुत ही सुन्दर, पवित्र, सुखदायक और सुशील है, जिसका यश और चरित्र वेद गाते हैं॥ २॥ जो दोषोंसे रहित, समस्त गुणोंकी राशि, श्रीपति और वैकुण्ठपुरीका निवासी है॥ ३॥ हम ऐसे वरको लाकर तुमसे मिला देंगे। यह सुनते ही भवानीजी हँसकर यह वचन बोलीं—॥ ४॥

☞ जोड़के श्लोक—'**अद्यापि शासनं प्राप्य गृहमायाहि दुर्मतिम्।''''त्वद्योग्यो हि वरो विष्णुस्सर्व-सद्गुणवान्प्रभुः। वैकुण्ठवासी लक्ष्मीशो नानाक्रीडाविशारदः॥ तेन ते कारयिष्यामो विवाहं सर्वसौख्यदम्॥ इत्येवं वचनं श्रुत्वा पार्वती जगदम्बिका। विहस्य च पुनः प्राह''''**।'(शिवपु० २। ३। २५। ५२—५५)।

टिप्पणी—१ (क) '*अजहूँ मानहु कहा हमारा।''''''*' इति। '*अजहूँ*' अर्थात् जो हुआ सो हुआ, पीछेके लिये अब पश्चात्ताप क्या? वह तो अब मिट नहीं सकता पर अभी कुछ गया नहीं। अब भी हमारा कहना मानो। अर्थात् नारद-वचनको त्याग दो। (ख) '*हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा*' अर्थात् नारदने जो वर विचारा वह '*नीक*' नहीं है और हमने जो सोचा है वह '*नीक*' है। '*नीक*' का अर्थ आगे स्वयं स्पष्ट करते हैं।'*अति सुंदर''''''।*'' नारदने विचारकर बताया था, यथा—'***जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥***', '***संभु सहज समरथ भगवाना। एहि बिबाह सब बिधि कल्याना॥''''जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥***' अतः ये भी कहते हैं कि हम भी विचारकर बतला रहे हैं। (ग) '***अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला॥''''बैकुंठ निवासी***' इति। '***अति सुंदर***' अर्थात् जितने भी सुन्दर पुरुष हैं उन सबसे ये अधिक सुन्दर हैं। स्त्रियोंको पतिकी सुन्दरता प्रिय है, इसीसे प्रथम सौन्दर्यवान् होना कहा। यथा—'***नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥***' ['***अति सुंदर***' कहनेका भाव कि जटा, पञ्चमुख, १५ नेत्र आदि कुरूपता इनमें नहीं है, यथा—'***बिकट बेष मुख पंच पुरारी।***', ये परम रूपवान् हैं। '***सुचि***' पवित्र हैं अर्थात् शिवजीकी तरह चिताकी अपावन भस्म नहीं लगाते, मुण्डमाला, सर्प, बाघम्बर इत्यादि धारण नहीं करते, किंतु बैजयन्तीमाला, कौस्तुभमणि, वनमाला इत्यादि माङ्गलिक पवित्र वस्तु धारण करते हैं। '***सुखद***' अर्थात् उनके दर्शनसे सुख होता है, शंकरजीकी तरह भयंकर नहीं हैं। शंकरजी संहार करते हैं, ये सबका पालन करके सबको आनन्द देते हैं—'***बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा॥''''***' (९६। ४-५) 'सुशील' हैं, सबका आदर-सत्कार, लिहाज-मुरव्वत करते हैं, किसीका अनादर नहीं करते, जैसे शिवजीने दक्षका किया, ऐसा सुन्दर स्वभाव है कि भृगुजीने चरणका प्रहार किया तो भी उनका पूजन ही किया, उनका चरण ही दबाने लगे कि कहीं चोट न लग गयी हो। शंकरजीकी तरह ये उदासीन नहीं है। बाबा हरिप्रसादजी लिखते हैं कि '***अति***' का भाव यह है कि सुन्दर, पवित्र, सुखद इत्यादि तो शिवजी भी हैं परंतु विष्णु-भगवान् अतिशय सुन्दर इत्यादि हैं। 'दूपणरहित' हैं अर्थात् इनमें दिगम्बर, व्याली, अकुल, अगेह इत्यादि एक भी दोष नहीं हैं, ये सकल गुणखानि हैं '***पुर बैकुंठ निवासी***' अर्थात् इनके घर है, वैकुण्ठ अनुपम स्थान इनका है।—(रा० प्र०, पं०, बै०)।] '***गावहिं बेद जासु जसु लीला***' का भाव कि कुलमान भी यशी होते हैं, सो बात यहाँ नहीं, इनकी लीलाका यश वेद गाते हैं। '***पुर बैकुंठ***' कहनेका भाव कि वैकुण्ठ बहुत हैं, अष्ट वैकुण्ठ हैं, तथा जहाँ भी भगवान् बिठा दिये जाते हैं वही स्थान वैकुण्ठ कहलाने

* बचन कह बिहँसि—१७२१, १७६२, छ०। बिहसि कह बचन—१६६१, १७०४ को०, रा०।

लगता है, सो नहीं किंतु जो वैकुण्ठ उपमारहित है वहाँके निवासी हैं। '*श्रीपति*' का भाव कि वे दिगम्बर हैं और ये श्रीके पति हैं। [पुन:, श्रीपति=शोभायुक्त हैं, लक्ष्मीपति हैं। ये वचन '***सहज एकाकिन्हके भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं***' की जोड़में कहे गये। पंजाबीजी लिखते हैं कि ''यद्यपि 'श्री' का अर्थ लक्ष्मी भी प्रसिद्ध है, परंतु यहाँ रुचिवर्द्धनहेतु कथन है, इससे 'शोभाके स्वामी' ही अर्थ ठीक है। लक्ष्मी अर्थ करनेसे सपत्नी-दाह-द्योतक रुचिघातक वाक्य होता है।'' बैजनाथजी और रा० प्र० ने भी यही अर्थ किया है। श्रीपति हैं अर्थात् कुबेष नहीं हैं] अथवा श्री=धनु।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ नौ गुण विष्णुमें दिखाये। कारण कि शिवजीमें भी नौ ही अवगुण दिखाये हैं। एकको जोड़में एक गुण यहाँ दिखाया है, यथा—

श्रीशिवजी	विष्णुभगवान्	श्रीशिवजी	श्रीविष्णुजी
सहज उदासी	१ सुशील	कपाली	५ शुचि
निर्गुण	२ गुणराशि	अकुल	६ गावहिं बेद जसु लीला
निर्लज्ज	३ दूषणरहित	अगेह	७ पुर बैकुंठनिवासी
कुवेषु	४ अतिसुन्दर	दिगम्बर	८ श्रीपति
		व्याली	९ सुखद

[१—वीरकविजी आठ-ही-आठ अवगुण और गुण लेते हैं और दोनोंका मिलान अन्य प्रकारसे करते हैं। वे लिखते हैं कि 'ऊपर क्रमसे १ निर्गुण, २ निर्लज्ज, ३ कुवेषु, ४ कपाली, ५ अकुल, ६ अगेह, ७ दिगम्बर और ८ व्याली—ये आठ दोष शिवजीके गिनाये हैं। उसी प्रकार भंगक्रमसे १ जिनके यशकी कथा वेद गाते हैं, २ सब गुणोंकी राशि, ३ अतिसुन्दर, ४ वैकुण्ठवासी, ५ लक्ष्मीनाथ, ६ पवित्र, ७ निर्दोष और ८ सुखद—ये आठ गुण विष्णुके कथन करनेमें 'यथासंख्य' अलंकार' है। जिस क्रमसे पहले अवगुणोंका वर्णन है वह क्रम गुणोंके वर्णनमें नहीं निबाहा गया है। २—कोई निर्लज्जके मुकाबिलेमें '***गावहिं बेद जासु जसु लीला***' अर्थात् यशस्वीको, अकुलकी जोड़में श्रीपतिको, दिगम्बरके मिलानमें, सुखदको व्यालीके मेलमें दूषणरहित विशेषणको लेते हैं। वि० त्रि० दिगम्बर, अकुल, उदासी और निर्गुणकी जोड़में क्रमश: सुशील, दूषणरहित, श्रीपति और '***गावहिं बेद जासु जसु लीला***' को लेते हैं।]

नौ-ही-नौ अवगुण एवं गुण कहकर एक-(शिवजी-) को अवगुणकी अवधि और दूसरे-(विष्णुजी-) को गुणोंकी अवधि सूचित की। संख्याकी अवधि ९ हीतक है। जैसा २८ (१) में दिखा आये हैं। ☞[श्रीपार्वतीजीने भी ऋषियोंके कथनका यही अर्थ समझा। यह बात आगेके दोहेसे स्पष्ट है—'***महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुनधाम।***' स्मरण रहे कि सप्तर्षि प्रेमपरीक्षार्थ आये हैं, इसलिये उन्होंने अवगुण शब्दका प्रयोग किया है, नहीं तो वे तो श्रीहरिहरके परम भक्त हैं। इन विशेषणों तथा वाक्योंमें भीतर-भीतर स्तुति भरी हुई है, जैसा ६७ (८), ६७ और ७९ (३-६) में लिखा जा चुका है।] (ग)—'***अस बर तुम्हहिं मिलाउब आनी***' इति। भाव कि तुमने ऐसा उग्र तप किया तब भी तुमको शिवजी न प्राप्त हुए और हम बिना परिश्रम ही घर बैठे सुन्दर वरको लाकर मिला देंगे, नारदकी तरह तुमसे उनके लिये तप करनेको न कहेंगे। (घ) '***सुनत बचन कह बिहँसि भवानी***' इति। '***तुम्ह कहुँ मिलाउब आनी***' जो कहा इसीपर हँसीं। हँसकर ऋषिके वचनका निरादर और नारदवचनका आदर सूचित किया। हस्तरेखको तथा विधिके अंकोंको प्रमाण रखा।

☞['***सुनत बचन बिहँसे रिषय***' वैसे ही यहाँ '***सुनत बचन कह बिहसि भवानी***' कहा। वे इनके वचनपर हँसे थे, ये उनके वचनपर हँसीं। इन दोनों वाक्योंके बीचमें ७८ से ८० (४) तक ऋषियोंके वचन हैं। ☞ऋषियोंके वचन दो दोहे और ११॥ अर्धालियोंमें हैं, पार्वतीजीका उत्तर एक दोहा और ११॥ अर्धालियोंमें है।]

पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—'***सुनत बिहसि कह बचन भवानी।***' शिव और विष्णुका अनमिल बेजोड़पन

अभी व्यंग्यहीकी भाषामें है, इससे पार्वतीमें भी हास्यभाव ही है जैसा आगे विदित है यद्यपि अब कुछ चिड़चिड़ापन भी है—(हास्यरस)।

सत्य कहेहु गिरि भव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥५॥
कनकौ पुनि पखान तें होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई॥६॥

शब्दार्थ—**भव**=उत्पन्न। **पखान** (पाषाण)=पत्थर। **सहजु**=स्वभाव।

अर्थ— (पार्वतीजीने कहा—) आपने सत्य ही कहा कि (मेरा) यह शरीर पर्वतसे उत्पन्न हुआ है (इसीसे तो इसका) हठ न छूटेगा, शरीर भले ही छूट जाय॥५॥ (देखिये) फिर सोना भी तो पाषाणसे ही उत्पन्न होता है सो तपाये जानेपर भी वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता॥६॥

नोट—१ (क) *'सत्य कहेहु······'* इति। सप्तर्षियोंके *'गिरिसंभव तव देह'* का उत्तर यहाँ पूरी एक चौपाईमें (दो अर्धालियोंमें) है—*'सत्य'* से *'परिहर सोई'* तक। अर्थात् आपने जो कहा यह सत्य ही है। गिरिसम्भव होनेके कारण मेरा हृदय पत्थरके समान दृढ़ और कठोर है। कारणके अनुसार ही कार्य होता है, यही नहीं किंतु कारणसे कार्य अधिक कठिन होता है, यह स्वाभाविक नियम है। यथा—*'कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई॥ कारन तें कारज कठिन होइ दोषु नहिं मोर। कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥'* (२।१७९)। जैसे पत्थरकी लीक नहीं मिटती वैसे ही मेरी भी वृत्ति अविचल है; किसीके कहनेका प्रभाव अब उसपर नहीं पड़ता। (ख) *'हठ न छूट······'* इति। भाव कि स्वभाव जन्म-जन्मान्तरमें भी नहीं छूटता। इसी तरह हमारा यह शरीर छूट जाय तब भी दूसरे जन्ममें मेरा फिर यही हठ रहेगा। जबतक शिवजीकी प्राप्ति न होगी तबतक कितने ही जन्म क्यों न हो जायँ, सबमें यही हठ रहेगा। यथा—*'जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी॥'* (१।८१)पुनः भाव कि दुराग्रहीके लिये कोई नीति नहीं है। जिनकी समझ उलटी है उन्हें किसने आजतक राहपर लगाया है। मुझे भी ऐसा ही समझकर मेरे विषयमें अधिक विचार अब न कीजिये। यह *'अजहूँ मानहु कहा हमारा'* का उत्तर है।

नोट—२ (क) *'कनकौ पुनि पखान तें होई'* इति। भाव कि सोना भी पत्थरसे ही उत्पन्न होता है। सोनेको जला डालो तो भी वह अपना स्वभाव (रंग और खरापन) नहीं छोड़ता, तब पर्वतसे उत्पन्न होनेपर मैं अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकती हूँ? सोना जड़ होकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता और मैं तो चेतन हूँ तब मुझे तो अपनी हठपर और भी दृढ़ होना चाहिये। तात्पर्य कि शिवजीके लिये मेरा दृढ़ संकल्प है, यह छूट नहीं सकता। (ख) ☞इसके जोड़की चौपाई अयोध्याकाण्डमें यह है—*'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे॥'* (२।२०५) (ग) यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। *'हठ न छूट······'* उपमेय वाक्य है और *'जारेहु सहजु······'* उपमान वाक्य है। (घ) *'पुनि'* का भाव कि जैसे तुम मुझे गिरिसम्भव कहते हो वैसे ही कनक भी तो गिरि-सम्भव है। मुझसे स्वभाव छोड़नेको कहते हो, उसका स्वभाव क्यों न छुड़ा दिया? पुनः भाव कि मैं तो उसकी बहिन ही ठहरी तब मेरा स्वभाव उसका-सा क्यों न हो? (ङ) *'जारेहु सहजु न परिहर सोई'* इति। भाव कि जलानेपर सभी पदार्थोंका रङ्ग-रूप बदल जाता है, परंतु सोना जैसे-जैसे तपाया जाता है तैसे-तैसे वह और भी चोखा रंग पकड़ता जाता है। वैसे ही मेरी भी चाहे जितनी कठिन परीक्षा हो मैं हठ नहीं छोड़नेकी, मेरा प्रेम नित्य नया बढ़ता ही जायगा। तपाये जानेसे सोनेका स्वभाव घटता नहीं वरंच बढ़ता है, उसका मूल्य बढ़ता है। वैसे ही मेरा भी उत्तरोत्तर बढ़ेगा। पुनः भाव कि जलानेपर पाषाणका हठ छूट जाता है पर पाषाणसे उत्पन्न कनकका 'हठ' नहीं छूटता, चाहे वह हजारों बार क्यों न जलाया जाय; वैसे ही मेरे पिता *'गिरि'* का हठ भले ही छूट जाय पर हमारा हठ नहीं ही छूटेगा। (खर्रा) (च) ☞मिलान कीजिये—*'अचलसुता मनु अचल बयारि कि डोलइ। साँच सनेह साँचि रुचि जो हठि फेरइ। सावन सरित सिंधु रुख सूप सो घेरइ॥ मनि बिनु फनि जलहीन*

मीन तनु त्यागइ। सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ॥' (पार्वतीमङ्गल ३६-३७) ये सब भाव इन तथा आगेकी अर्द्धालियोंमें भरे हुए हैं। ☞पुनः यथा—'**सत्यं भवद्भिः कथितं स्वज्ञानेन मुनीश्वराः। परंतु मे हठो नैव मुक्तो भवति हे द्विजाः॥ स्वतनोः शैलजातत्वात्काठिन्यं सहजं स्थितम्। इत्थं विचार्य सुधिया मां निषेद्धुं न चार्हथ॥**' (शिवपुराण २।३।२५।५६-५७)

नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन ऊजरौ नहिं डरऊँ॥७॥
गुर के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥८॥

अर्थ—(इसी प्रकार) मैं नारदजीका उपदेश न छोड़ूँगी। घर बसे या उजड़े, मुझे इसका डर नहीं (है)॥७॥ जिसको गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं है, उसे स्वप्नमें भी सुख और सिद्धि (वा, सुखकी सिद्धि) सुलभ नहीं हो सकती॥८॥

श्रीलमगोड़ाजी—ऋषियोंके दोनों मजाकोंको बड़ी सुन्दरतासे उलट दिया गया है। परंतु अन्तिम पद—*'गुर के बचन प्रतीति न जेही।''''* हास्यरससे शान्तरसपर पहुँच गया है।

नोट—१ सप्तर्षियोंकी सभी बातोंका उत्तर पार्वतीजीने दिया है—

सप्तर्षियोंके वचन	पार्वतीजीके उत्तर
गिरि संभव तव देह	१ *'सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥ कनकौ पुनि पखान तें होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई॥'*
नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह	२ *नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ॥*
तेहिके बचन मानि बिस्वासा	३ *गुर के बचन प्रतीति न जेही*
कहहु कवन सुखु अस बर पाएँ	४ *सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही*

५. शिवजीके अवगुण और विष्णुजीके गुण कहे, उसका उत्तर *'महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥'* (८०) है।

अजहूँ मानहु कहा हमारा	६ *जो तुम्ह मिलतेउ प्रथम मुनीसा। सुनितिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥ अब मैं जन्मु संभु हित हारा।*
अस बर तुम्हहिं मिलाउब आनी	७ *जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किये बरेषी॥ तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥*
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। *''''तेहिके बचन*	८ *मैं पा परउँ कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु''''।*

नोट—२ (क) सप्तर्षियोंने नारदजीको बुरा-भला कहा। यह पार्वतीजीको बहुत बुरा लगा। इसीसे प्रारम्भमें ही वे उनको बताये देती हैं कि देवर्षि नारद हमारे गुरु हैं, उनके वचन हमारे लिये पत्थरकी लकीरके समान हैं, टाले नहीं टल सकते। *'नारद बचन न मैं परिहरऊँ'* कहकर फिर उसका कारण बताती हैं कि *'गुर के बचन प्रतीति न जेही।''''''* (ख) *'नारद'* शब्द ही गुरुत्वका द्योतक है; क्योंकि 'गु-शब्दस्त्वन्धकारस्तु रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥' के अनुसार हृदयके अन्धकारके नाशको 'गुरु' कहते हैं। हृदयका अन्धकार अज्ञान है। अज्ञानका नाश आत्म-परमात्म-ज्ञानसे ही होता है और आत्म-परमात्म-ज्ञान जिनके द्वारा हो, वे ही 'गुरु' हैं। अतः *'गुर बिनु होइ कि ज्ञान'* के अनुसार ज्ञानदाता 'गुरु' कहे जाते हैं और '**नारं ज्ञानं ददातीति नारदः**' अर्थात् 'नार' (ज्ञान) जो दे उसका नाम '**नारद**' है। इस व्युत्पत्तिसे नारद और गुरु शब्द एकार्थवाची होनेसे नारदजीको 'गुरु' कहा और '**गुरोराज्ञा गरीयसी**' तथा '**आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया**' (रघुवंश), के अनुसार *'नारद बचन न मैं परिहरऊँ।''''गुर के बचन''''''* इत्यादि कहा गया। (वे० भू० रा० कु० दास)। (ग) ☞श्रीगुरुवाक्यपर शिष्यका ऐसा ही दृढ़ विश्वास रहना चाहिये। विश्वासका धर्म दृढ़ता है, यथा *'बट बिश्वास अचल निज धर्मा।'* वह अवश्य

फलीभूत होगा इसमें सन्देह नहीं। शिष्यमें आचार्याभिमान होना परम गुण है, इष्टप्राप्तिका सर्वोपरि उपाय है और परम लाभ है। गुरुनिष्ठ भक्तोंकी कथाएँ भक्तमालमें भी प्रसिद्ध हैं। (घ) *'सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही'* इति। भाव कि मनुष्योंकी कौन कहे, देवताओंको भी स्वप्नमें भी सुख और सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। देवराज इन्द्र और चन्द्रमा—ये लोकपाल भी गुरुकी अवज्ञा करनेसे दुःखी ही हुए।

नोट—३ शिवपुराणमें गुरुवचनपर चार श्लोक हैं। उनको भी *'प्रतीति न जेही'* और *'प्रतीति न जेही'* करके यहाँ भी ले सकते हैं। जिनको प्रतीति नहीं है उनको दुःख-ही-दुःख होता है और जिनको प्रतीति है उन्हें सुख होता है। यथा—'**गुरूणां वचनं पथ्यमिति वेदविदो विदुः। गुरूणां वचनं सत्यमिति यद्धृदये न धीः। इहामुत्रापि तेषां हि दुःखं न च सुखं क्वचित्॥ गुरूणां वचनं सत्यमिति येषां दृढा मतिः। तेषामिहामुत्र सुखं परमं नासुखं क्वचित्॥ सर्वथा न परित्याज्यं गुरूणां वचनं द्विजाः। गृहं वसेद्वाशून्यं स्यान्मे हठस्सुखदस्सदा॥**'(२।३।२५।५८—६१)

नोट—४ नारदजीसे पार्वतीजीने तप करनेका उपदेश होनेपर उनसे पञ्चाक्षरी-मन्त्र भी लेकर उनको गुरु किया था। यथा—'**रुद्रस्याराधनार्थाय मन्त्रं देहि मुने हि मे। न सिद्ध्यति क्रिया कापि सर्वेषां सद्गुरुं विना।**'''''' **इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पार्वत्या मुनिसत्तमः। पञ्चाक्षरं शम्भुमन्त्रं विधिपूर्वमुपादिशः॥**' (शिवपुराण २। ३। २१। ३१—३३)। अर्थात् जब पार्वतीजीने कहा कि बिना सद्गुरुके सिद्धि नहीं होती; अतः आप मुझे शिवाराधनका मन्त्र दें, तब नारदजीने उनको पञ्चाक्षरी मन्त्र दिया, उसका प्रभाव बताया, ध्यान बताया।—इस तरह वे विधिपूर्वक गुरु हुए थे।

दो०—महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥८०॥

शब्दार्थ—**रमना**=लग जाना, आसक्त हो जाना।

अर्थ—महादेवजी अवगुणोंके घर (सही) और भगवान् विष्णु समस्त गुणोंके धाम हों। (सही) पर जिसका मन जिससे रम गया है, उसको तो उसीसे काम है॥८०॥

नोट—१ ☞श्रीपार्वतीजी अपने वाक्योंद्वारा उपदेश दे रही हैं कि मनुष्यको अपने उपास्यमें दृढ़ रहना चाहिये, अन्यमें चित्त लगाना उचित नहीं। यहाँ किस सुन्दरताके साथ उत्तर दिया गया है, वह देखने ही योग्य है। 'शिवजीमें आप जिन बातोंको दोष समझे हुए हैं, जो आप अवगुण बताते हैं, वे गुण ही हैं अवगुण नहीं हैं—यह वाद-विवाद वे नहीं करतीं। न तो परम श्रद्धास्पदके गुण-दोष-विवेचनपर शास्त्रार्थ इष्ट है और न विष्णुके विरुद्ध एक शब्द मुखसे निकालना इष्ट है। वे सप्तर्षियोंकी बात मान लेती हैं कि ठीक है, शिवजीमें दोष-ही-दोष हैं और विष्णुजीमें गुण-ही-गुण हैं, पर मैं करूँ तो क्या? मेरा मन तो शिवजीहीमें रम गया है, हमें गुण-दोषसे कोई सरोकार ही नहीं रह गया। अतः वे ही मुझे प्रिय लगते हैं, दूसरा नहीं। यथा—'**तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥**' (कथासरित्सागर) अर्थात् जिसका मन जहाँ लगा है, उसे वही मीठा है। पुनश्च—*'गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥'* (१। ५) यह लोकोक्ति है। *'**सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ। बौरेहिके अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि। दोस निधान इसानु सत्य सबु भाषेउ। मेटि को सकइ सो आँकु जो बिधि लिखि राखेउ॥ को करि बादु बिबादु बिषाद बढ़ावइ। मीठ काह कबि कहहिं जाहि जोइ भावइ॥**'* (३७—४०) वाद-विवाद करनेसे क्या लाभ? बहुत कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। हमारा मन इन्हींमें रम गया है—इस बातका कोई उत्तर नहीं रह गया। जो बात ऋषियोंने कही, उसीको लेकर उसीसे उत्तर देती चली जा रही हैं। सप्तर्षियोंने पार्वतीजीको 'गिरिसम्भव' कहा, शिवजीको अवगुणधाम कहा और नारदजीको 'कपटी' तथा उन्हींके सम्बन्धसे *'बसेउ किसु गेह'* इत्यादि जो-जो बातें उन्होंने कहीं, उन सबोंको स्वीकार करते हुए आप उत्तर दे रही हैं।

*'**जेहि कर मनु रम जाहि सन**''''''*' यह पद प्रेमकी एकाग्रताके लिये जनश्रुति बन चुका है। पार्वतीजीके प्रेमकी धारणामें आन्तरिक जोड़ देखा जाता है, बाहरी नहीं। (हास्यरस। लमगोड़ाजी)

जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥ १॥
अब मैं जन्म संभु हित* हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥ २॥
जौ तुम्हरें हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किएँ बरेषी॥ ३॥

शब्दार्थ—**बरेषी**-वरकी इच्छा=कन्याके लिये योग्य वर देखना और मिलाना वर देखी (जिसे किसी-किसी देशमें वरगुहारी, वरतुही, विचवानी और सगाई भी कहते हैं)। वरेक्षा, वरेच्छा, वरिच्छाकी रीति यही जान पड़ती है।=विवाहसम्बन्धके लिये वर या कन्या देखना; विवाहकी ठहरौनी। यह शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है; यथा—*'लोग कहैं पोच सो न सोच संकोच मेरे ब्याह न बरेषी जाति पाँति न चहत हौं।', 'घरघाल चालक कलह-प्रिय कहियत परम परमारथी। तैसी बरेषी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी॥'* (पार्वतीमंगल ५७)

अर्थ—हे मुनीश्वरो! यदि पहले आप ही मिले होते तो मैं आपका ही उपदेश सिरपर धरकर सुनती॥ १॥ अब (तो) मैं अपना जन्म शिवजीके लिये हार चुकी; (अत: अब) गुण-दोषका विचार कौन करे?॥ २॥ यदि आपके हृदयमें बहुत ही हठ है, विवाहकी बातचीत किये बिना रहा नहीं जाता॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम……'* इति। (क) सप्तर्षियोंके *'अजहूँ मानहु कहा हमारा'* का उत्तर यह दे रही हैं। इसपर यदि वे कहें कि जभी महात्मा मिल जायें तभीसे हठ छोड़कर उनका कहा मान लेना चाहिये। हम इस समय मिले हैं, तुम्हारी भूल तुमको बताते हैं; अत: अभीसे उसे मानकर उसपर चलो।' तो, उसके उत्तरमें कहती हैं कि *'अब मैं जन्म संभु हित हारा।'* अर्थात् सम्मति देने या माननेका समय अब हाथसे निकल गया। (ख) *'अब मैं जन्म संभु हित हारा'* में वर्तमान स्थिति कही और आगे भविष्यकी भी यही परिस्थिति प्रतिज्ञापूर्वक कहती हैं—*'जन्म कोटि लगि रगर हमारी।……'* केवल वर्तमान कहतीं तो भविष्य रह जाता। भूतके कथनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह तो हो ही चुका। वर्तमान और भविष्यके लिये बता दिया कि मैं अपनेको शिवजीको समर्पण कर चुकी। अत: आपका उपदेश शिरोधार्य करनेमें असमर्थ हूँ। यदि आप नारदजीके पहले आते तो आपका उपदेश शिरोधार्य करती।

नोट—१ *'धरि सीसा'* इति। बड़ोंकी आज्ञा सिरपर धरकर स्वीकार करना कहा जाता है, अर्थात् शिरोधार्य की जाती है। यथा—*'अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी', 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा॥'* (७६) *'मातु उचित धरि आयसु कीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥'* (२। १७४) *'प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथे मानि करौं सिख सोई॥'* (२। २५८) *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सबु"॥'* (२। २६९) *'चले सीस धरि राम रजाई।'* (२। ३१८) इत्यादि। यह मुहावरा है। अत: *'धरि सीसा'* कहा। अर्थात् आदरपूर्वक सुनती। ध्वनि यह है कि अब तो नारदके वचनको सिरपर धर चुकी हूँ अत: आपके वचनोंका आदर नहीं हो सकता। पुन:, भाव कि आज्ञा न माननेसे अप्रसन्न होकर शाप न दे दें यह सोचकर समझा रही हैं कि यदि प्रतिज्ञाबद्ध न होती तो अवश्य मानती, प्रतिज्ञा तोड़ना तो आप भी पसंद न करेंगे। दूसरे, कन्याका विवाह एक ही बार होता है सो मैं तो मनसे शिवजीको वर चुकी, अब दूसरेके योग्य नहीं रही। तीसरे, आपके कहनेसे आज नारदजीका वचन छोड़ दूँ, कल और कोई आकर कुछ और कहे तो क्या आपका वचन छोड़ना आपको ठीक लगेगा?

नोट—२ *'संभु हित हारा'* इति। भाव कि जैसे जुएमें जो वस्तु हार दी जाती है वह दूसरेकी हो जाती है; वैसे ही मैं प्रेमरूपी जुएमें यह शरीर शिवजीके हाथ हार चुकी, अब यह तन उनका हो गया, हमारा या किसी औरका कोई अधिकार इसपर नहीं रह गया। *'को गुन दूषन करहि बिचारा'* इति। भाव कि यह धर्म कुलवन्तियोंका नहीं है कि पहले किसीसे मन लग गया, फिर दूसरेकी प्रशंसा सुनी तो

* सैं— १७२१, १७६२, छ०। हित— १६६१, १७०४, को० रा०।

गुण-दोषोंका निर्णय करने लगीं। जिसको एक बार मन दे दिया, फिर उसमें दोष न विचारना चाहिये। प्रेमास्पदमें गुण-दोषका विचार करना प्रेमीके प्रेममें कच्चापन साबित करता है, उसके प्रेममें बट्टा लगाता है—*'सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ।'* (पार्वतीमंगल ३७)

नोट—३ *'जौ तुम्हरें हठ……'* —भाव कि इतना उत्तर पानेपर भी यदि आप नहीं चले जाना चाहते और हठ करके फिर कुछ कहना चाहते हैं अतः कहती हैं*'जौं……।'* (वि० त्रि०)

तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥ ४॥

जन्म कोटि लगि रगर* हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी॥ ५॥

अर्थ—तो कौतुकप्रिय लोगों-(खेलाड़ियों-) को आलस्य तो होता ही नहीं, संसारमें वर और कन्याएँ बहुत हैं (आप वहाँ जाकर बरेषी करें, अपना हौसला मिटा सकते हैं)॥ ४॥ हमारी तो करोड़ों जन्मोंतक यही रगड़ रहेगी कि शिवजीहीको ब्याहूँगी नहीं तो कुआरी ही बनी रहूँगी॥ ५॥

नोट—दोहा ८० से ८१ (४) तकका प्रसंग कविका अपना जान पड़ता है। अर्धाली ५का भाव शिवपुराणके—'**चेच्छिवस्स हि मे विप्रा विवाहं न करिष्यति। अविवाहा सदाहं स्यां सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥**' (२।३।२५।६८) इस श्लोकमें है।

टिप्पणी—१ *'तौ कौतुकिअन्ह……'* इति। ***कौतुकिअन्ह*** (=कौतुक करनेवाले) कहकर जनाया कि आप तो कौतुक करने आये हैं। ***'बरेषी'*** कन्याकी ओरसे की जाती है, कहीं वरकी ओरसे कन्याएँ नहीं ढूँढ़ी जातीं, सो आप विष्णुभगवान्‌की ओरसे उनके लिये कन्या ढूँढ़ने आये हैं, अतः यह कौतुक ही जान पड़ता है। ***'कौतुकी'*** कहनेके और भाव ये हैं—(क) नारदजीको गुरु कहा, यथा—*'गुर के बचन प्रतीति न जेही।'* इससे इनको कौतुकी कहा। (ख) सप्तर्षियोंके वचन मानना नहीं है और वे नारदजीके उपदेशसे हटाना चाहते हैं। अतः कौतुकी कहा। (ग) कौतुकीका काम है खेल खिलाना, खेल करना। ये एकको दूसरेसे मिलानेका काम करनेको कहते हैं, यथा—*'अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी।'* अतः कौतुकी कहा। (ब्रह्मवाणीने तो मनोरथ सुफल होनेका वरदान दिया और कहा कि *'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।'* साथ ही वाणीके प्रमाणके लिये सप्तर्षियोंके मिलापकी सूचना दी थी। सप्तर्षि आये तो, पर उलटी-पलटी बातें करने लगे। दूसरा वर कर देनेकी और शिवजीकी ओरसे विमुख करनेकी कह रहे हैं। इससे वे समझ गयीं कि ये खेलवाड़ कर रहे हैं। यही समझकर वे कह रही हैं कि आपको आकाशवाणीने भेजा किसलिये और आप कह क्या रहे हैं, खेलवाड़ ही करना है तो बहुत घर हैं। यहाँ तो आकाशवाणीको प्रमाण करनेवाली बात ही कहनी उचित थी)। २—*'आलसु नाहीं'* इति। खेलाड़ी और तमाशाई आलसी नहीं होते, आलस्य करें तो फिर कौतुक कैसे कर सकें।

नोट—१ 'ऋषियोंका कैसा अच्छा मखौल है। यह याद रहे कि ऋषियोंने केवल परीक्षाके लिये यह सब कहा था। इसीसे चतुरताके साथ द्विभाषीपन प्रकट है। तुलसीदासजीकी काव्यकलामें कलाकारी और कारीगरी साथ-साथ चलती है।' (हास्यरस। लमगोड़ाजी)

नोट—२ *'जन्म कोटि लगि रगर हमारी।……'* इति। यदि ऋषि कहें कि अच्छा इस जन्ममें न सही आगेके लिये हम अभीसे कहे रहते हैं। अथवा, कहें कि तुम हमारा अपमान करती हो पर शिवजी तो तुम्हें प्राप्त होनेके नहीं, तुम पीछे पछताओगी कि हमने ऋषियोंकी बात न मानी, नारदके बहकानेमें लग गयीं, सब परिश्रम व्यर्थ हुआ, तो उसपर कहती हैं कि यह आशा न रखिये, इस जन्मकी तथा एक जन्मकी क्या करोड़ों जन्म बीत जायँ तो भी मैं अपना हठ नहीं छोड़नेकी, ब्याह करूँगी तो शंकरजीसे ही नहीं तो कुआरी ही बनी रहूँगी। *'कुंआरी रहऊँ'* का भाव कि प्रतिज्ञा न छोड़ूँगी, हताश होकर संकल्पके प्रतिकूल विवाह न करूँगी, दूसरेसे विवाह कदापि न करूँगी, यह समझ लूँगी कि विवाह विधाताने लिखा ही नहीं। यथा—*'तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥ सुकृत जाइ जौं पन*

* रगरि—१७२१, १७६२, १७०४, छ०। रगर-१६६१

परिहरऊँ। कुँअरि कुआरि रहउ का करऊँ॥' यहाँ 'विकल्प' अलंकार है। जहाँ ऐसा वाक्य हो कि ऐसा हुआ तो हुआ, नहीं तो ऐसा ही होगा, वहाँ यह अलंकार होता है। आशय यह कि इस जन्ममें तप करते-करते प्राण छूट गये तो दूसरे जन्ममें फिर उन्हींके लिये तप करूँगी, फिर भी न मिले तो तीसरे जन्ममें फिर शिवजीहीके लिये तप करूँगी, इसी तरह जबतक वे न मिलेंगे हठ न छोड़ूँगी, बराबर प्रयत्न करूँगी।—यह प्रेमकी सीमा है।

तजौं न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥ ६॥
मैं पाँ परौं कहैं जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भएउ बिलंबा॥ ७॥

अर्थ—मैं नारदजीका उपदेश नहीं ही छोड़ूँगी (चाहे) महेशजी ही स्वयं सैकड़ों बार क्यों न कहें॥ ६॥ जगन्माता श्रीपार्वतीजी कहती हैं कि मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, आप घर जायँ, बहुत देर हो गयी है॥ ७॥

नोट—१ *'तजौं न''''''आपु कहहिं सत बार महेसू॥'* इति। 'शिवजीके लिये ही तो तप कर रही हैं, उनको पति मान चुकीं, फिर भी उनका कहना न मानेंगी।' इस कथनका क्या प्रयोजन है? इसमें क्या अभिप्राय है? इसपर महानुभावोंने अनेक भाव लिखे हैं। कुछ ये हैं—

१-पूर्व कह चुकी हैं कि *'गुर के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥'* इष्टसे आचार्यका दर्जा (पद) बड़ा है। [वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे कहा है—*'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी।'* (२।१२) और भी कबीरजीने कहा है—*'गुरु गोबिन्द दोनों खड़े काके लागौं पाय। बलिहारी उन गुरुनकी गोबिन्द दियो लखाय॥'*, पुनः*'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥'* (१। १६६)।] अतएव गुरुके वचनपर दृढ़ रहना ही कर्तव्य है।

२-जब किसी अनुष्ठानका फल प्राप्त होनेको होता है, उसकी सिद्धि होनेका समय आता है, तब देवता अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, पर उत्तम साधक इष्टकी ओरसे चाहे कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचे कदापि इष्टका प्रेम नहीं छोड़ते। यथा—*बरषि परुष पाहन पयद पंख करउ टुक टूक। तुलसी तदपि न चाहिये चतुर चातकहिं चूक॥ उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर। चितउ कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥ पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि। रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥'* (दोहावली २८२—२८४)—इष्ट स्वयं ऐसा विघ्न डालते हैं, हानि पहुँचाते हैं, तब तो प्रेमी प्रेम छोड़ता ही नहीं, तब और किसीके विघ्न डालनेसे, बहकानेसे वह कब बहक सकता है? यहाँ शिवजीका स्वयं कहना ही (कि हम तुम्हारे पति नहीं होंगे, हमारे लिये तप न करो, इत्यादि) प्रेमपनमें विघ्न डालना है। कुमारसम्भव और पार्वतीमंगलमें तो यहाँतक लिखा है कि शिवजी स्वयं ब्रह्मचारी बनकर परीक्षा लेने गये थे। यथा—'**बटु बेष पेखन पेम पनु ब्रत नेम ससि सेखर गए॥**' (पार्वतीमंगल २५)

३-जबतक पाणिग्रहण न हो जाय तबतक वरको कोई अधिकार आज्ञा देनेका नहीं है। (बै०) ☞यहाँ ध्वनित अर्थ यह भी है कि आपको शङ्करजीने क्यों भेजा? स्वयं ही क्यों न आकर परीक्षा कर ली? स्वयं ही चाहे आकर और कहकर देख न लें कि भला मैं कभी भी विचलित हो सकती हूँ। इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि वे जान गयीं कि ये शिवजीके भेजे आये हैं। (रा० कु०) ☞वस्तुतः दृढ़ता दिखानेका इससे बढ़कर और क्या कथन हो सकता है कि जिनके लिये मैं तप कर रही हूँ वे स्वयं ही एक बारकी कौन कहे, सैकड़ों बार स्वयं आ-आकर कहें कि हम तुमको पत्नीरूपसे वरण नहीं करनेके, तब भी मैं हठ न छोड़ूँगी, ब्याहूँगी तो उन्हींको, नहीं तो अनब्याही रहूँगी और उनके ही लिये तप करती रहूँगी। गुरुने कहा है कि मिलेंगे। मैं उनके वचनपर दृढ़ हूँ। तब आपके कहनेको भला मैं कब सुनने लगी? धन्य! धन्य!! धन्य!!! जय! जय!! जय!!! जगज्जननी हम सबोंको यह अनन्यताका पाठ सिखा रही हैं, अपने आचरणद्वारा उपदेश दे रही हैं। जय! जय!! जय!!!

कुछ लोगोंने और भी भाव लिखे हैं पर मेरी समझमें वे उपयुक्त नहीं हैं। जैसे कि—

(क) ऊपर जो सप्तर्षियोंने नारदजी एवं शिवजीकी निन्दा की उसका प्रायश्चित्त बताती हैं कि *'आपु*

कहहिं सत बार महेसू।' अर्थात् निन्दाका पाप तभी छूटेगा जब आप सौ बार महेश-महेश जपें वा शङ्करशतक जपें। यथा—***'जपहु जाइ संकर सत नामा।'*** (१। १३८)। (भगवान्‌ने नारदजीसे कहा है)। (ख) नारदजीका उपदेश शङ्कर-प्राप्तिका है। अतः अवरेबसे अर्थ कर लें कि 'नारदजीका महेश (प्राप्तिका) उपदेश नहीं छोड़ूँगी, चाहे आप हमसे सैकड़ों बार क्यों न कहें।'

नोट—२ ***'मैं पाँ परौं कहैं जगदंबा।'***...... इति। (क) ☞यह साधारण मनुष्यप्रकृति है कि जब किसी दुष्ट वा प्रतिकूल पुरुषका संग पड़ जाता है जो दुष्टतासे बाज नहीं आता, व्यर्थ ही जीको दुखाता है, जिससे मनुष्य आजिज (तंग) आ जाता है और शिष्टाचार या अपनी भलमनसाहतके कारण कुछ कह नहीं सकता, तब वह यही कहता है— 'अच्छा मैं पाँव पड़ता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ, आपसे हार गया, जाइये बहुत देर हो गयी, अधिक कुछ कहना-सुनना नहीं चाहता, बड़ी कृपा होगी अब आप चले जायँ'—यही सब भाव 'पाँव पड़ने' में हैं। यह मुहावरा 'अत्यन्त दीनतासे प्रार्थना वा विनय करने' के भावमें आता है। (ख) ***'कहैं जगदंबा'*** इति। श्रीनारदजी और श्रीशिवजी, गुरु, साधु और इष्टकी निन्दा सप्तर्षियोंने की। पार्वतीजी उसे सह न सकीं; गुरु-इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोध आना उचित ही था, पर उन्होंने क्रोध न करके उलटे विनती की। अतः ***'जगदंबा'*** विशेषण दिया। अर्थात् ये तो जगज्जननी हैं, पुत्र कितना ही बिगाड़ता है तब भी माता बालक जानकर वात्सल्य नहीं छोड़ती, उसका अहित नहीं करती, न उसपर क्रोध ही करती है। यथा— **'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥'** (बैं०, रा० प्र०, पं० रा० कु०)। (ग) पार्वतीमंगलमें बटुकी बातें सुन क्रोध आया है फिर भी ऐसी ही विनय वहाँ भी है; यथा—***'करनकटुक बटु बचन बिसिख सम हिय हए। अरुन नयन चढ़ि भृकुटि अधर फरकत भए॥ बोली तनु फिरि लखि सखिहि काँपु थर-थर। आलि बिदा करु बटुहि बेगि बड़ बरबर॥'' बकि जनि उठहि बहोरि कुजुगुति सँवारहि॥ जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीति रीति न बात की। सिव साधु निंदक मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी॥'*** (३८—४१)—ये सब भाव इस अर्धालीमें हैं। (घ) ***'जगदंबा'*** शब्द देकर यह भी जना दिया कि ये सर्वज्ञ हैं, जानती हैं कि सप्तर्षिको आगे और क्या करना है। अभी हिमाचलके घर जाना है, उनको यहाँ भेजना इत्यादि।

नोट—३ ***'तुम्ह गृह गवनहु'***— इति। (क) इसमें भी ध्वनिसे बहुत भाव भरे हैं। एक तो साधारण कि—'बाबा! बहुत हो चुका, अब घर जाइये, अधिक जी न जलाइये।' दूसरे, मैं तो उपदेश लेने आपके यहाँ गयी नहीं, आप अपने घर जायँ, मैंने आपको बुलाया तो है नहीं, इत्यादि। आप अपने घर रहें, मैं अपने। तीसरे, आपको क्या और काम नहीं है जो यहाँ इतना समय व्यर्थ बिता रहे हैं? जाइये, अपना काम देखिये, आकर व्यर्थ बकवादसे क्या लाभ?—ये भाव तो साधारण मुहावरेके अनुकूल हुए। आशय यह कि मैं निन्दा सुनना नहीं चाहती, व्यर्थ न सताइये, चलते हूजिये।—***'भइ बड़ि बार आलि कहु काज सिधारहि'*** (पार्वतीमंगल ४०)। (ख) व्यंग्यसे यहाँ ***'नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह'*** का भी उत्तर दे रही हैं कि 'जाइये, महाराज! अपना घर सँवारिये, सँभालिये, वह न उजड़ने पावे। हमारे घरकी चिन्ता न कीजिये।' (ग) यहाँ 'तिरस्कार अलंकार' है; यथा—***'त्यागिय आदरणीयहू लखिय जो दोष बिशेष। तिरस्कार भूषण कहैं जिनको सुमति अशेष॥'*** (अ० मं०) (घ) पुनः, गुप्तरूपसे यह भी बताती हैं कि 'क्या शिवजीकी आज्ञा आप भूल गये?' अब शीघ्र हमारे घर जाइये। शङ्करजीकी आज्ञानुसार गिरिराजको जाकर हमारे ले जानेके लिये भेजिये— यह भाव ***'जगदंबा'*** के सम्बन्धसे हो सकता है। (ङ) कोई-कोई यह भाव लिखते हैं कि 'अपने बरके लिये जाकर किसी औरका घर देखिये' यह भाव ***'तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं।'***...... के अनुकूल है। परन्तु मुहावरेके अनुसार तो यह अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं। ***'गृह'*** के साथ 'अन्य किसीका' ये शब्द अपनी ओरसे बढ़ाने पड़ते हैं।

देखि प्रेम बोले मुनि ग्यानी। जय जय जगदंबिके भवानी॥ ८॥

दो०—तुम्ह माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हरषत गातु॥८१॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीका प्रेम देखकर ज्ञानी-मुनि सप्तर्षि बोले—'जगदम्बिके! हे भवानी! आपकी जय हो! जय हो!॥८॥ आप माया हैं और शिवजी भगवान् हैं। आप दोनों संसारके माता-पिता हैं।' (यह कहकर पार्वतीजीके) चरणोंमें सिर नवाकर (प्रणाम करके) मुनि वहाँसे चल दिये। उनके शरीर बारम्बार पुलकित हो रहे हैं॥८१॥

नोट—१ *'देखि प्रेम'*······' इति। (क) शिवजीकी आज्ञा थी कि—*पारबतीं पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु।*' (७७) सप्तर्षियोंने आकर परीक्षा करके प्रेम देख लिया। अत: *'देखि प्रेम'* कहा। (ख) सप्तर्षिजी पार्वतीजीका वास्तविक स्वरूप जानते हैं, अत: उनको *'ज्ञानी'* कहा। (ग) मुनि जब परीक्षा लेने आये तब उन्होंने पार्वतीजीको *'शैलकुमारी'* कहकर सम्बोधन किया था, क्योंकि परीक्षा माधुर्यहीमें होती है; इसीसे वहाँ ऐश्वर्यसूचक सम्बोधन नहीं दे सकते थे। परीक्षा ले चुकनेपर ऐश्वर्य खोल दिया, *'जगदंबिके भवानी'* कहा। (घ) *'पार्वती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु॥'* (७७)। उपक्रम है, *'देखि प्रेम'* पर उसका उपसंहार है। (ङ) *'जय जय जगदंबिके'* इति। परीक्षामें पूरी उतरीं, इससे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए और जय-जयकार करने लगे। आनन्दके उद्गारमें मुखसे ऐसे शब्द बारम्बार निकलते हैं। यहाँ आनन्दकी वीप्सा है। (दो बार प्रश्नोत्तर हुआ, अत: दो बार जय-जयकार किया। वि० त्रि०) *'जगदम्बिके'* और *'भवानी'* का भाव कि हमलोग जानते हैं कि आप तो जगन्माता हैं, भवकी नित्यशक्ति हैं, आप जानती ही हैं कि हमलोग किसलिये आये थे। इस तरह पूर्वके माधुर्यको ऐश्वर्यसे मिलाते हैं।

नोट—२ *'तुम्ह माया भगवान शिव'*······' इति। (क) माया और ईश्वरसे, प्रकृति और पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्ति है। इससे दोनोंका सम्बन्ध अनादि सिद्ध जनाया। उत्पत्तिकर्त्ता होनेसे *'भगवान'* कहा, यथा—*उत्पत्तिं प्रलयं चैव*······' मिलान कीजिये—*'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी। जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥'* (२। १२६)। (ख) *'नाइ चरन सिर मुनि चले'* इति। जब सप्तर्षि आये थे, तब उन्होंने प्रणाम नहीं किया था, आते ही तपका कारण पूछ चले थे, क्योंकि परीक्षा लेनी थी, बड़े बनकर आये थे। उस समय 'शैलकुमारी', 'गौरि' नाम दिये गये अर्थात् प्राकृत राजाकी कन्या कहकर सम्बोधन किया गया था। राजकुमारीको प्रणाम अयोग्य होता। उपदेश भी माधुर्यमें ही बनता है, ऐश्वर्यमें नहीं। अत: उस समय प्रणाम न किया। अब उनको जगदम्बिके, भवानी, भगवान् शंकरकी आद्याशक्ति माया कहा, अत: प्रणाम करना आवश्यक हुआ। प्रारम्भमें यदि प्रणाम करते तो माताकी परीक्षा लेना घोर अनुचित होता। (ग) *'तब रिषि तुरत गौरि पहिं गयऊ।'* (७८। १) उपक्रम है, *'नाइ चरन सिर मुनि चले'* पर उसका उपसंहार हुआ। (घ) *'पुनि पुनि हरषत गातु'* इति। इससे हृदयका प्रेम सूचित हो रहा है। देवताओंको प्रणाम करनेमें हर्ष होना ही चाहिये। यथा—*'चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता॥'*······*'भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥'* (५०) पुन: निष्ठा, श्रद्धा और प्रेम देखकर मग्न हो गये हैं, अत: शरीर पुलकित हो रहा है। जैसे—भरतजीका स्वभाव, विनय, प्रेम, निष्ठा आदि देख श्रीवसिष्ठ, जनक, देवता आदि सभी आनन्दमें मग्न हो जाते थे—*'भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिला धनी। मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥'* (२। ३०१) *'धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥ मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥ सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेम पेमु अति पावन पावन॥'*······*'सचिव सभासद सब अनुरागे॥'* (२। ३०९) *'मुनिगन गुर धुरधीर जनक से।* ···*तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार। भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥'* (२। ३१७) ऐसे ही सप्तर्षि श्रीपार्वतीजीका प्रेम, नेम, निष्ठा तथा अन्तिम विनम्र वचन आदि देख, सुन और स्मरण कर पुलकित होते हैं, प्रेममें मग्न हैं और उनकी सराहना कर रहे हैं। भवानीका स्वभाव और उनकी बातें

जैसे-जैसे स्मरण होती हैं तैसे-तैसे पुलकाङ्ग हो-हो आता है; अतः *'पुनि पुनि हरषत'* कहा। पुनः, जिस कार्यके लिये आये थे उसकी सिद्धि हुई इससे हर्ष है। (ङ)—यहाँ सप्तर्षियोंका मन, वचन और कर्म तीनोंसे भवानीके चरणोंमें अनुराग दिखाया है। *'पुनि पुनि हरषत'* से मन (क्योंकि हर्ष मनका धर्म है), *'जय जय जगदंबिके भवानी। तुम्ह माया भगवान……'* से वचन और *'नाइ चरन सिर'* से कर्मका अनुराग कहा। ☞शिवपु० में भी प्रणाम और जय-जयकार है।

नोट—३ श्रीलमगोड़ाजी—(क) दृश्य हास्यसे उठकर शान्त रसके शिखरपर जा पहुँचा जो महाकाव्यकी विशेषता है। (ख) जी० पी० श्रीवास्तवजी जो इस समय हास्यकलाके मुख्य आचार्य हैं, उनके सूत्रानुसार ऋषियोंने मानो 'कुकुड़ूँकूँ' बोल दिया। तुलसीदासजीकी कलाका कमाल यह है कि 'कुकुड़ूँकूँ' बोलनेवाले चरित्र भी बहुधा रंगमंचसे हर्षित ही बिदा होते हैं।

सप्तर्षि-गिरिजा-संवाद समाप्त हुआ।

जाइ मुनिन्ह हिमवंतु पठाए। करि बिनती गिरिजहि गृह ल्याए॥ १॥
बहुरि सप्तरिषि शिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई॥ २॥

अर्थ—मुनियोंने जाकर हिमवान्‌को भेजा। वे विनती करके गिरिजाजीको घर ले आये॥ १॥ फिर सप्तर्षियोंने शिवजीके पास जाकर उमाजीकी सारी कथा उनसे कह सुनायी॥ २॥

नोट—१ *'जाइ मुनिन्ह……'* इति। (क) शिवजीकी आज्ञा थी कि *'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन'* उस आज्ञाका पालन यह हुआ। यहाँ *'प्रेरि'* का अर्थ खोल दिया। पूर्व *'प्रेरि'* कहा और यहाँ *'पठाए'।* इस तरह *'प्रेरि'*=भेजकर। यथा—*'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे।'* (९०)। (ख) *'करि बिनती……'* इति। विनती करनेका भाव कि पार्वतीजी तपका हठ किये हुए हैं, अतः विनती करके उनको तपसे निवृत्त किया। ब्रह्मवाणीके *'हठ परिहरि घर जायहु तबहीं'* से यही भाव सिद्ध होता है। (ग) *'गृह ल्याए'* इति। घरसे हिमाचलकी राजधानी 'ओषधिप्रस्थ' अभिप्रेत है। गन्धमादनपर्वत इस पुरके बाहरका उपवन है ऐसा कुमारसम्भव सर्ग ६ श्लोक ३३ में कहा है। इस पुरका वर्णन श्लोक ३६से ४६ तकमें है। पद्मपुराण-सृष्टिखण्डमें भी इसका वर्णन है। दोहा ६५ की अर्धाली ६ भी देखिये।

नोट—२ *'बहुरि सप्तरिषि शिव……'* इति। (क) *'बहुरि'* का भाव कि शिवजीकी आज्ञा तो इतनी ही मात्र थी कि प्रेमपरीक्षा लो, गिरिराजको भेजकर उमाजीको घर भेजो। लौटकर फिर अपने पास आनेको नहीं कहा था परंतु सप्तर्षि पार्वतीजीका निश्चल पवित्र प्रेम देख इतने मुग्ध हो गये कि उनका चरित सुनानेके लिये वे शिवजीके पास पुनः आये। परीक्षा लेने भेजा था, अतः कहने आये कि हमने परीक्षा ली, उनके प्रेमकी बलिहारी है। पुनः, *'बहुरि'* कहा क्योंकि एक बार पूर्व आ चुके थे, यथा—*'तबहि सप्तरिषि सिव पहिं आए।'* अब दूसरी बार आये। पुनः, *'बहुरि'*=लौटकर, फिर। पुनः, *'बहुरि'* का भाव कि जब हिमाचल पार्वतीजीको घर ले आये तब—यह भाव *'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन'* से ध्वनित होता है। (ख) *'कथा उमा कै……'* इति। अर्थात् जिस प्रकार परीक्षा ली; जो-जो बातें इन्होंने कहीं और जो-जो उत्तर उन्होंने दिये वे सब कहे। तथा यह भी बताया कि कैसी तपोमूर्ति ही वे देख पड़ती थीं।

भए मगन शिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवनें गेहा॥ ३॥
मन थिरु करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥ ४॥

अर्थ—(उमाजीका) प्रेम सुनते ही शिवजी आनन्दमें डूब गये। सप्तर्षि प्रसन्न होकर अपने घर गये॥ ३॥ तब सुजान शिवजी मनको स्थिर करके श्रीरघुनाथजीका ध्यान करने लगे॥ ४॥

नोट—१ *'भए मगन शिव सुनत सनेहा।……'* इति। (क) मग्न होनेका भाव कि 'अब पार्वतीजीको

भरोसा हो गया होगा और उनकी तपन मिट गयी होगी! (रा० प्र०) और भी भाव टीकामें दिये हैं पर मेरी क्षुद्रबुद्धिमें तो 'पार्वतीजीका अपने ऊपर सच्चा अनन्य प्रेम' होना ही मग्न होनेका वास्तविक कारण है। उनके प्रेम-समुद्रमें आप डूब गये। त्रिपाठीजीका मत है कि भगवती 'ई' हैं, बिना उनके शिव शव हैं; अतः पुनः 'शिवत्व' प्राप्तिके निश्चयसे आनन्दित हुए। (ख) *'हरषि……गेहा'* इति। सेवा जो सौंपी थी वह अपने द्वारा पूरी हो गयी, भगवान् शङ्कर सेवासे प्रसन्न हुए, अतः इनको भी 'हर्ष' हुआ। (ग) सप्तर्षियोंका घर कहाँ है जो इनका यहाँसे घर जाना कहा गया? इसका उत्तर *'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥'* (६५) से ही हो जाता है कि अन्य ऋषियोंकी तरह इन्होंने भी हिमालयपर ही आश्रम बना लिया था, वहीं गये। हरिद्वारसे पाँच-छः मील उत्तर (पूर्वदिशा लिये हुए) एक सप्तस्रोत नामक प्रसिद्ध रमणीक स्थान है। यहाँसे थोड़ी-थोड़ी दूरसे छोटी-छोटी सात धाराएँ जाकर भगवती भागीरथीमें मिलती हैं। इन्हीं सप्तस्रोतोंके स्थानपर सप्तर्षियोंका निवासस्थान कुछ कालतक था; ऐसी प्रख्यात जनश्रुति है। कुमारसम्भवके अनुसार यह कथा वैवस्वत मन्वन्तरकी ही है। इसी मन्वन्तरमें सप्तर्षि पार्वतीजीके पास गये थे। सप्तर्षियोंके नाम जो इसमें दिये हैं, उनमें वसिष्ठजीका भी नाम है, जो श्रीअरुन्धतीजीसहित यहाँ गये थे। वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें वसिष्ठजीका नाम प्रथम है। (विष्णुपुराण अंश ३। १। ३०, ३२। विष्णुपुराण अंश ३ अ० १, २ में चौदहों मन्वन्तरोंके सप्तर्षियोंकी नामावली दी हुई है। उनमेंसे केवल वैवस्वत मन्वन्तरमें ही वसिष्ठजीकी गणना है, अन्य तेरहमें नहीं है। ☞सप्तर्षियोंके घरके विषयमें तर्क-पूर्ण एक समाधान तो ऊपर हो ही चुका। दूसरा समाधान यह है कि हिमालयसे भिन्न भी इनके घर प्रसिद्ध हैं—(१) वसिष्ठजीका घर एक तो अयोध्याजीमें प्रसिद्ध ही है, दूसरा घर ('रघुवंश' महाकाव्यके सर्ग २ के अनुसार) अर्बुद नामक हिमालयके एक शिखरपर भी है, जहाँ रहकर महाराज दिलीपजीने उनकी नन्दिनी कामधेनुकी सेवा कर वरदान पाया था। (२) काश्यपका घर सुमेर प्रसिद्ध है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें भी इसका वर्णन स्पष्टरूपसे है। (३) अत्रिजीका घर चित्रकूटमें अनुसूया-आश्रमके नामसे प्रसिद्ध है। (४) जमदग्निजीका आश्रम रेवा नदीके तटपर था (महाभारत)। (५) गौतमजीका स्थान गोदरिया सेमरिया जनकपुरसे कुछ दूरीपर अहल्या-आश्रम-नामसे दरभंगा जिलेमें कमतौल स्टेशनके पास था। (६) विश्वामित्रजीका स्थान कुछ दिन कौशिकी तटपर था। ब्रह्मर्षि हो जानेपर गङ्गातट-कामवनके सिद्धाश्रममें था जिसे आजकल बक्सर कहते हैं। उसका असली नाम 'व्याघ्रसर' है। (७) भरद्वाजजीका आश्रम प्रयागमें प्रसिद्ध ही है। (बै० भू०, रा० कु० दास)

नोट—२ *'मन थिरु करि……'* इति। (क) 'भक्ता सतीके स्नेह और विरहसे अबतक मन थिर न था। पुनः भाव कि श्रीपार्वतीजीके प्रेमसे मन चञ्चल हो गया था। उनके प्रेमके हाथों मानो बिक गये थे; यथा—*'हमहि आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ। पारबती तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ॥'* (पार्वतीमंगल-४५) अतः मनको सावधानकर फिर भजनमें लगे। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'सतीतनत्यागसे मनमें वैराग्य हो गया था, कहीं किसी वस्तुमें राग न होता था, सर्वत्र विचरते फिरते थे। (नीलगिरिपर भुशुण्डिजीसे रामचरित सुननेसे विश्राम मिला तब पुनः कैलास आये थे) अब मन स्थिर हुआ तब ध्यान करने लगे। पहली समाधिमें काननचारी रूपका ध्यान किया था और इस समाधिमें, जिस रूपसे श्रीरामजी उनके सामने प्रकट हुए थे, यथा—*'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूपसीलनिधि तेज बिसाला॥'* (७६) उसी रूपका ध्यान किया। पुनः, *'मन थिरु करि'* का भाव कि जीव स्वतः मनके वश हो जाता है, जब भगवान् कृपा करें, तब उसका मन अपने वशमें होता है, और ये तो भगवान् हैं, मन स्वतः इनके वशमें ही है, जब जैसा चाहें उससे वैसा काम लें, वे मनके अधीन नहीं हैं। अतएव उन्होंने अपनेसे ही मनको स्थिर किया।' त्रिपाठीजीका मत है कि आनन्दकी घटना उपस्थित होनेपर महात्मा लोग भगवान्‌का ध्यान करते हैं, वैसे ही शिवजी यहाँ ध्यान करने लगे। (ख) ☞मनको स्थिर कर ध्यान करने लगे अर्थात् समाधि लग गयी,

यथा—'*सहज बिमल मन लागि समाधी।*' (१२५) समाधि लगनेकी बात आगे ब्रह्माजीके वचनोंसे स्पष्ट है, यथा—'*तेहि तपु कीन्ह संभु हित लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी॥*' (८३) (ग) '*मन थिरु करि*……' यह उपक्रम है। इसका उपसंहार '*भयउ ईस मन छोभु बिसेषी॥*'…… (८७। ४)। पर है।

श्रीपार्वती-प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त हुआ

तारक असुर भएउ तेहि काला। भुज प्रताप बल तेज बिसाला॥ ५॥
तेहि* सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख† संपति रीते॥ ६॥

अर्थ— उसी समय तारक नामका दैत्य हुआ जिसकी भुजाओंका बल, प्रताप और तेज बहुत बड़ा था। (अर्थात् जो बड़ा प्रतापी, बलवान् और तेजस्वी था)॥ ५॥ उसने सब लोकों और लोकपालोंको जीत लिया। देवता सुख और संपत्तिसे खाली हो गये॥ ६॥

नोट—१ पद्मपुराण-सृष्टिखण्डमें तारकासुरके जन्मकी कथा इस प्रकार है—'महर्षि कश्यपके वरदानसे दितिके वज्राङ्ग नामक एक पुत्र हुआ जिसके सभी अङ्ग वज्रके समान सुदृढ़ थे और जो जन्मते ही सब शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गया। माताकी आज्ञासे वह स्वर्गमें गया और अमोघ तेजवाले पाशसे इन्द्रको बाँध लाया। ब्रह्माजी तथा कश्यपजीके कहनेसे उसने इन्द्रको मुक्त कर दिया और ब्रह्माजीसे वरदान माँगा कि मेरा मन तपस्यामें लगे और वह निर्विघ्न पूरी हो। ब्रह्माजीने उसे वर दिया और एक वराङ्गी नामकी स्त्री उत्पन्न करके उसको पत्नीरूपसे अंगीकार करनेको दी। दोनों तप करने लगे। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वर दिया कि उसके हृदयमें आसुरभाव कभी न हो और तपस्यामें उसका अनुराग बना रहे। तपस्या समाप्तकर जब वह घर आया तो स्त्रीको न पाया। वनमें उसने स्त्रीको रोते हुए पाया। पूछनेपर मालूम हुआ कि इन्द्रने उसे बहुत डरवाया और घरसे निकाल दिया था जिससे वह प्राण-त्याग करनेका निश्चय कर चुकी थी। उसने वज्राङ्गसे कहा—'आप मुझे ऐसा पुत्र दीजिये जो मुझे इस दुःख-समुद्रसे तार दे। वज्राङ्गने इसी आशयसे फिर तप किया और ब्रह्माने उसे वर दिया कि 'तारक' नामक महाबली पुत्र होगा। मत्स्यपुराणमें भी इस तप और वरदानका उल्लेख है। यथा—'**अलं ते तपसा वत्स मा क्लेशे दुस्तरे विश। पुत्रस्ते तारको नाम भविष्यति महाबलः॥**' (अ० १४७ श्लोक १७) वराङ्गी अपने पतिद्वारा स्थापित किये हुए गर्भको पूरे एक हजार वर्षतक धारण किये रही, इसके बाद उसने पुत्रको जन्म दिया जो जन्मते ही भयंकर पराक्रमी हो गया। देवताओंका दमन करनेके विचारसे उसने पारियात्रपर्वतपर जाकर बड़ा उग्र तप किया जिससे सुरासुर सभी जले जाते थे। सबको भयभीत देख ब्रह्माजीने उसके पास जाकर उससे इच्छित उत्तम वर माँगनेको कहा। यथा—'**उद्विग्नाश्च सुराः सर्वे तपसा तस्य भीषिताः। एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा परमं तोषमागतः॥**' (मत्स्यपुराण अ० १४८ श्लोक १४) '**वृतं तेनेदमेवं प्राक् मया चास्मै प्रतिश्रुतम्। वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः॥**' (कुमारसम्भव सर्ग १ श्लोक ५६)—और शिवपुराणमें इसे तार असुरका पुत्र कहा है। इसने जब एक हजार वर्षतक तप किया और कुछ फल न हुआ, तब इसके मस्तकसे एक बहुत प्रचण्ड तेज निकला जिससे देवता लोग व्याकुल होने लगे, यहाँतक कि इन्द्र सिंहासनपरसे खिंचने लगा। देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्माजी उसे वर देने आये। पद्मपुराणमें चार सौ वर्ष तप करना लिखा है। अस्तु।

मत्स्यपुराणके अनुसार उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् कर हाथ जोड़ प्रार्थना की कि '**देव भूतमनोवास वेत्सि जन्तुविचेष्टितम्। कृतप्रतिकृताकांक्षी जिगीषुः प्रायशो जनः॥ वयं च जातिधर्मेण कृतवैराः सहामरैः। तैश्च निःशेषिता दैत्याः क्रूरैः सन्त्यज्य धर्मिताम्॥ तेषामहं समुद्धर्त्ता भवेयमिति मे मतिः।**' (१८-१९) हे देव! हम सब प्राणियोंके हृदयमें वास करनेवाले! आप सबकी इच्छाको भलीभाँति जानते हैं। प्रायः लोग दूसरेके साथ वैसा ही कर्तव्य करनेकी इच्छा रखते हैं जैसा उनके साथ दूसरोंने किया है। हमसे देवताओंसे स्वाभाविक

* तेइ—१७०४। ते—को० रा०। तेहि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। † सब— १७०४।

वैर है। उन्होंने दैत्यकुलको नि:शेष कर दिया है। अत: उसका उद्धार करनेकी इच्छा है। यह कहकर तब उसने इस तरह वर माँगा कि 'किसी महापराक्रमी प्राणी या किसी अस्त्र-शस्त्रसे मेरी मृत्यु न हो, यही उत्तम वर हमारे हृदयमें स्थित है। हे देवेश! यही वर मुझे दीजिये और किसी वरकी मुझे इच्छा नहीं है।' और पद्मपुराणमें यह वर माँगना लिखा है कि 'किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो। श्रीब्रह्माजीने कहा कि देहधारियोंके लिये मृत्यु निश्चित है, अत: ऐसा वर नहीं मिल सकता कि किसी प्रकार मृत्यु न हो। तुम ऐसा वर माँगो कि इस-इससे मेरी मृत्यु न हो।' जिस किसी निमित्तसे भी, जिससे तुम्हें भय न हो, अपनी मृत्यु माँग लो, जिससे तुम्हें शङ्का हो उससे मृत्यु न होनेका वर माँग लो।' तब दैत्यराजने मायासे मोहित होकर यह वर माँगा कि हमारी मृत्यु सात दिनके बालक शिशुको छोड़कर और किसीसे न हो।' और शिवपुराणानुसार उसने दो वर माँगे। पहला तो यह कि—'मेरे समान संसारमें कोई बलवान् न हो।' दूसरा यह कि—'यदि मैं मारा जाऊँ तो उसीके हाथसे जो शिवजीसे उत्पन्न हो।' अस्तु, ब्रह्माजी उसके इच्छित वरको देकर ब्रह्मलोकको गये और तारक अपने घर गया। ऐसा वर प्राप्त होनेपर महिष, कालनेमि, जम्भ, ग्रसन, शम्भु आदि बड़े-बड़े दैत्य उससे आ मिले और उसको अपना अधिपति बनाया। (मत्स्यपुराण अ० १४८, १५४, श्लोक २०—२६, ४७—४९) अब तारकासुर घोर अन्याय करने लगा। त्रैलोक्यमें कोई स्वतन्त्र न रह गया। देवताओंके सारे विमान-समूह छीन लिये, सुमेरुपरके देवताओंके निवासस्थानोंपर भी अधिकार कर लिया। पद्मपुराणमें लिखा है कि वायुदेवसे असुरोंका उद्योग जानकर कि वे बड़ी भारी सेना लेकर स्वर्गपर धावा करनेवाले हैं। इन्द्र देवताओंकी सेना लेकर संग्रामके लिये निकले और एक साथ ही सब-के-सब तारकपर प्रहार करने लगे। पर उसका कुछ कर न सके। उसने देवताओंको अपने हाथके पृष्ठ भागसे ही मार गिराया। बचे हुए प्राण लेकर भगे, तब सब देवता ब्रह्माजीके पास गये और उनसे अपना दुखड़ा रो सुनाया।—*'देखे बिधि सब देव दुखारे'* पर टिप्पणी देखिये। ब्रह्माजीने कहा कि हमने उसे वर दिया है, उसका स्वयं नाश करना हमारे लिये अयोग्य है। 'विषका वृक्ष भी बढ़ाकर स्वयं ही काटना उचित नहीं।' उस दैत्यने सात दिनके शिशुसे अपनी मृत्यु होनेका वर माँगा था। तारकासुरके तेजको श्रीमहादेवजीके वीर्यसे उत्पन्न शिशुके अतिरिक्त और कोई नहीं सह सकता। 'शिवजीके पुत्रके अतिरिक्त तारकको और कोई मार नहीं सकता। इस समय हिमालयपर पार्वतीजी शिवजीके लिये तप कर रही हैं। जाकर ऐसा उपाय रचो कि उनका संयोग शिवजीके साथ हो जाय।'—(श० सा०) शिवजी समाधिस्थ हैं, यत्न करो कि वे पार्वतीजीसे विवाह करें। (कुमारसम्भव सर्ग २। ५७, ५९, ६१ मत्स्यपुराण अ० १४६, १५४) पद्मपुराणमें लिखा है कि—'हिमालयकी कन्या जो उमादेवी होगी, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र अरणिसे प्रकट होनेवाले अग्निदेवकी भाँति तेजस्वी होगा। उस पुत्रका सामना करनेपर तारकासुर नष्ट हो जायगा।' (संक्षिप्त पद्मपुराणसे) इसके आगेकी कथा आगे ग्रन्थकारने स्वयं दी है।

नोट—२ *'भयउ तेहि काला'* इति। (क) इससे प्रश्न होता है—*'तेहि काला'?* सतीजीके समयमें ही हुआ या पार्वतीजन्म होनेपर या शिवजीके दूसरी समाधि लगानेपर हुआ? स्कन्द और पद्मपुराणसे तो निश्चय होता है कि तारकासुरके वर पाने और देवताओंकी पुकारके पश्चात् श्रीपार्वतीजीका जन्म हुआ और मत्स्यपुराण तथा कुमारसम्भवका मत है कि देवताओंने जब ब्रह्माजीसे पुकार की उस समय शिवजी समाधिस्थ थे। इससे यह निश्चय होता है कि पार्वतीजीके जन्मके पश्चात् ही तारकका जन्म हुआ और पार्वती-तपकी समाप्तिके लगभग ही उसको भी वर मिला, चाहे कुछ पहले या पीछे और उसका अत्याचार समाधि होनेपर बढ़ा। मानसका *'तेहि काला'* कुमारसम्भव और मत्स्यपुराणसे मिलता-जुलता है। (ख) देखिये, प्रभुकी आज्ञा तो है कि *'जाइ बिबाहहु सैलजहिं'* और शिवजी समाधि लगाकर बैठ गये। उनका यह कर्म प्रभुकी आज्ञाके प्रतिकूल हुआ। इसीसे भगवान्‌ने विघ्न उपस्थित कर दिया कि *'तारक असुर भयउ तेहि काला।'* उसका जन्म चाहे समाधिके पहले ही हो गया हो पर विशाल प्रताप, बल और तेज उसका समाधिस्थ होनेपर हुआ। ऐसा अन्वय कर सकते हैं कि—*'भुज प्रताप बल तेज तेहि काल बिसाल*

भएउ।' प्रभुकी आज्ञा तो ब्याहकी है ही, अब लोक-व्यवहार भी ऐसा ही आ बना कि अब उमाजीको अवश्य ब्याहेंगे। आगे *'संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतै रन सोइ'* इस दोहेके द्वारा लोक-व्यवहार कहा गया। (पं० रामकुमारजी)

टिप्पणी—१ *'भुज प्रताप बल तेज बिसाला'* इति। (क) कीर्त्ति, यश, बल या नाम सुनकर ही शत्रु डर जाय यह*'प्रताप'* कहलाता है। *'तेज'* यह है कि मुखपर तपस्याके कारण ऐसा प्रकाश है कि शत्रु सामने आनेपर आँख नहीं लड़ा सकता, देखकर काँप उठता है; यथा—*'तेज निधान लखन पुनि तैसें। कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरि किसोर के ताकें॥'* (१। २९३) देखते ही सिर झुक जाना, नम्र पड़ जाना यह *'तेज'* का प्रभाव है। *'बल'* यह है कि कैसा भी दुर्घट कार्य हो उसे सुगमतासे बिना परिश्रम कर डाले। (ख) कुमारसम्भवमें *'तेज'* के सम्बन्धमें यह लिखा है कि जब सब देवता घबड़ाकर ब्रह्माजीके पास गये, तब ब्रह्माजीके प्रश्न करनेपर इन्द्रका इशारा पाकर बृहस्पतिजीने देवताओंका दुःख यों वर्णन किया है—'इन्द्र, वरुण, यमराज, चन्द्रमा, सूर्य, पवन, रुद्रों और वासुकी इत्यादिके तेज तारकासुरके सामने नष्ट हो गये हैं। सभी उसका रुख जोहते रहते हैं, तो भी वह शान्त नहीं होता, तीनों भुवनोंको क्लेश देता है। दुष्ट कभी भी भला बिना प्रतिकारके शान्त हो सकते हैं? वह देव-बधूटियोंसे पंखा झलवाता है, यज्ञोंमें दिये हुए हव्योंको अग्निके मुखसे छीन ले जाता है। विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका।' (सर्ग २, श्लोक २०—५५) पद्मपुराणमें लिखा है कि ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'तुम्हारा तेज किसने छीन लिया? तुम ऐसे देख पड़ते हो मानो तुममें कुछ भी करनेकी शक्ति ही न रह गयी। तुम्हारी कान्ति जाती रही।'—यह सब तेज और प्रतापका ही भावार्थ है। इसीसे *'प्रताप तेज'* विशाल कहा। उसके आगे देवताओंका तेज, प्रताप जाता रहा। (ग) *'बल'* के सम्बन्धमें पूर्व कह आये हैं कि उसने यह वर माँग लिया था कि 'मेरे समान संसारमें कोई बलवान् न हो' अतः *'बल'* विशाल है। उसके सामने किसीका बल नहीं चलता। समस्त देवताओंने एक साथ उसपर प्रहार किया तब उसने रथपरसे कूदकर करोड़ों देवताओंको अपने हाथके पृष्ठ भागसे ही मार गिराया—(पद्मपुराण)।—यह उसके विशाल बलका उदाहरण है। अर्धाली ७, ८ का नोट भी *'प्रताप बल तेज'* पर देखिये। [*'बल'* शब्दके पहिले *'प्रताप'* शब्दके प्रयोगका भाव कि उसकी भुजाओंके प्रतापके बलसे उसके अनुचर लोकपालोंको बाँधकर पशुओंकी भाँति खींच लाये। इस भाँति प्रताप कहा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'तेहि सब लोक लोकपति जीते'* इति। सब लोकपति अर्थात् *'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥'* (१। १८२) पद्मपुराणमें लिखा है कि अपने दूत वायुसे दैत्योंका उद्योग सुनकर इन्द्रने संग्रामकी तैयारी की। यमराजको सेनापति बनाकर समस्त लोकपाल अपनी-अपनी दुर्जय सेना लेकर साथमें गये। पर सब-के-सब प्रथम ही बार हार गये। तब उसने सबके लोकोंपर अधिकार जमा लिया। अतः *'लोक लोकपति जीते'* कहा। (ख) *'भए देव सुख संपति रीते'* इति। इससे जनाया कि सब देवता पराधीन होकर रह रहे हैं। पराधीनको सुख कहाँ ? यथा—*'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'* (१। १०२) अतः *'सुख रीते'* कहा। उनके सब लोक छिन गये हैं। अतः *'संपति रीते'* कहा। इससे जनाया कि इन्द्रादि लोकपालोंको जीतकर उनकी सब संपत्ति भी छीन ली। *'लोक जीते'* से यह भी जनाया कि लोकोंको लोकपालोंसे छीनकर अब उनमें अपनी नीतिके अनुसार हुकूमत करता था, उन अधिकारियोंके स्थानपर अपने अधिकारी नियुक्त कर दिये थे। दैत्य ही देवताओंपर शासन करते थे।

अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई॥ ७॥
तब बिरंचि सन* जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे॥ ८॥

अर्थ—वह अजर-अमर था, (किसीसे) जीता नहीं जाता था। देवता लोग (उसके साथ) अनेक

* पहिं— १७२१, १७६२, छ०। सन— १६६१, १७०४, को० रा०।

प्रकारसे लड़ाई करके हार गये॥ ७॥ तब सबोंने जाकर ब्रह्माजीसे पुकार की। ब्रह्माजीने सब देवताओंको दु:खी देखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'अजर अमर सो……'* इति। (क) भाव कि वह न तो बुड्ढा ही होता है, न उसका शरीर किसी प्रकार जीर्ण वा जर्जर होता है और न वह किसीके मारे मरता है; अतएव जीता नहीं जाता। [(ख) यहाँ यह शङ्का उठाकर कि 'वह अजर-अमर था तो मरा कैसे?' वे महानुभाव अपनी शङ्काके समाधानार्थ यों अर्थ करते हैं कि 'अजर-अमर (जो देवता उन) सों (से) जीता नहीं जाता', वा 'अजर-अमर देवताओंसे वह जीता नहीं जाता।' वा **सो**=सों=सदृश, समान। अर्थात् 'अजर-अमर-सा है, इसीसे जीता नहीं जाता।' मेरी समझमें समाधान यह हो सकता है कि जैसे देवता भी अमर कहलाते हैं, *'अमर'* उनका नाम ही हो गया है, पर वे भी तो काल पाकर मरते ही हैं। देवताओंको जो *'अमर'* कहा जाता है वह मनुष्यादिकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। वैसे ही यहाँ भी *'अमर'* से तात्पर्य यही है कि केवल सात दिनके शिशुको छोड़कर वह सबसे अमर था, अवध्य था। काल आदि देवता मारनेको समर्थ होते हुए भी उसे नहीं मार सकते, भगवान् विष्णुका चक्र भी उसका कुछ न कर सका, जो मृत्युके साधन प्रसिद्ध हैं और जो वर्तमान हैं उनसे वह अवध्य है, उनके द्वारा इस समय वह मर नहीं सकता।—इसी भावसे उसे *'अजर अमर'* कहा गया।] (ग)—*'हारे सुर करि बिबिध लराई'* इति। *'बिबिध'* अर्थात् जितनी भी लड़ाईकी विधियाँ हैं, वह सब प्रकारकी लड़ाई की, फिर भी न जीत पाये। कोई भी प्रकार लड़ाईका न बचा। अथवा साम, दान, दण्ड और भेद सब प्रकारसे लड़ाईमें हार गये। पुन:, *'बिबिध'* से यह भी भाव ले सकते हैं कि बहुत बार लड़ाई की, कभी न जीते। [*'अजर अमर……'* से बल और *'हारे सुर……'* से उसका तेज दिखाया। वि० त्रि०]

टिप्पणी—२ *'तब बिरंचि सन जाइ पुकारे……'* इति। (क) *'तब'* अर्थात् जब किसी प्रकार न जीत पाये, जब अपना कोई पुरुषार्थ कारगर न हुआ, न चला। (ख) *'बिरंचि'* का भाव कि ये सृष्टिरचयिता हैं, इन्होंने देवताओंके लिये स्वर्ग आदि लोक रचे और सृष्टि रचनेके समयसे ही आपने स्वर्गलोक यज्ञभोगी देवगणके अधिकारमें दे रखा है, वह अधिकार तारकासुरने छीन लिया है, अत: उन्हींके पास फरियाद लेकर आये। ☞प्राय: यही रीति भी है कि जब देवता दैत्यों या राक्षसोंसे पीड़ित होते हैं तब इन्हींके पास फरियाद करते हैं, वैसे ही यहाँ भी उन्हींसे पुकार की। रावणके अत्याचारपर भी *'बिरंचि'* हीके यहाँ जाना कहा है। भाव यह है कि आपने सृष्टि रची, अधिकार दिये; वह आपकी सृष्टि नष्ट हुई जाती है, आपका सारा परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा, सारी सृष्टि चौपट हो जायगी, यदि आप शीघ्र इसका उपाय न करेंगे। पुन:, ब्रह्माने ही उसे वर दिया है, अत: सृष्टिरचयिता जान उन्हींके पास गये। (ग) *'देखे बिधि सब देव दुखारे'* इति। देवता सृष्टिरचयिता तथा अपना स्वामी जानकर उनके पास गये और *'बिधि'* (ब्रह्माजी) सबके विधानकर्त्ता हैं, अत: वे दु:खी हुए। इसी भेदसे पहले *'बिरंचि'* और अब *'बिधि'* नाम दिये गये। *'देखे……'* का दृश्य कुमारसम्भवमें बहुत अच्छा दिखाया है। सर्ग २ श्लोक १९—२७ में लिखा है कि ब्रह्माजी देवताओंको देखकर बोले—'हे वत्सगण! आपके मुखोंपर पूर्ववत् कान्ति नहीं है। इन्द्रका वज्र कुण्ठित-सा और वरुणका पाश दीन-सा देख पड़ता है। कुबेरकी भुजा गदासे रहित मानो अनादरकी सूचना दे रही है। यमराजका दण्ड अशक्त-सा जान पड़ता है।……क्या आपकी प्रतिष्ठा किसीने भङ्ग की है?

नोट—१ *'भुज प्रताप बल तेज बिसाला'* कहकर *'देखे बिधि सब देव दुखारे'* यहाँतक उसका प्रताप, बल और तेज तीनों दिखाये। यद्यपि प्रताप और तेज प्राय: पर्याय शब्दकी तरह प्रयुक्त होते हैं तब भी उनमें सूक्ष्म भेद है। *'प्रताप'* बल-पराक्रमादि महत्त्वका ऐसा प्रभाव जिसके कारण उपद्रवी शान्त रहते हैं। मनुष्य एक ही स्थानपर बैठा रहता है पर उसका प्रताप देश-देशान्तरोंमें दूर-दूरतक फैला हुआ काम करता है, उसका भय छाया रहता है। यथा—*'जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥ पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥'* (उ० ३१) *'जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥'* —शत्रुके उरमें अत्यन्त ताप हो यह प्रतापका लक्षण है। *'भए देव सुख*

संपति रीते' सुख जाता रहा, यह विशेष सन्तापका प्रत्यक्ष चिह्न है। तथा—*'तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे॥'* इन दोनोंमें तारकासुरका विशाल प्रताप कहा और ऊपर यह भी दिखा आये हैं कि सब लोकपालोंके तेज नष्ट हो गये।—*'ससि मलीन रबि सीतल लागे'*—यह सब प्रताप है। कोई मुँहसे कुछ भी बात निकालते डरता है। *'तेज'* जैसे कि अग्नि। तेजमें अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है। *'तेज कृसानु रोष महिषेसा।'* तेजमें भी ताप और प्रकाश होता है। शरीरमें तेज रहनेसे साहस और बल होता है। भेद केवल इतना है कि तेज सम्मुख होनेपर काम देता है और प्रताप पीठ पीछे—परोक्षमें भी। यथा—*'राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहिं लोक बिलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोरके ताके॥'* अर्थात् जिसकी ओर ताक दें उसकी नानी ही मर जाय। तेज और बल *'तेहि सब लोक लोकपति जीते।' 'हारे सुर करि बिबिध लराई'* और *'जीति न जाई'* इनमें दिखाये।

दोहा—सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ।
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतै रन सोइ॥८२॥

अर्थ—ब्रह्माजीने सबसे समझाकर कहा कि उस दानवका नाश तब होगा जब शिवजीके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न हो। इसे लड़ाईमें वही जीतेगा॥८२॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब सन कहा बुझाइ'* इति। सबसे कहा जिसमें सबको सन्तोष हो और सब मिलकर उपाय करें। सबसे कहा, इसीसे सभीने वचन सुनकर अन्तमें प्रशंसा की; यथा—*'मत अति नीक कहइ सबु कोई।' 'कहा बुझाइ'* अर्थात् समझाया कि उसने ऐसा बड़ा उग्र तप किया था कि उसके तेजसे पृथ्वी जली जाती थी। इस दुःखके निवारणार्थ हमने उसे वरदान देकर अनुकूल बनाया और तपस्यासे रोका। वह इस समय देवता, दैत्य और असुर सभीके लिये अवध्य है। जिसके द्वारा उसका वध हो सकता है, वह पुरुष त्रिलोकीमें अभीतक पैदा नहीं हुआ। उस दैत्यने अपनी मृत्यु सात दिनके ऐसे शिशुसे माँगी है जो शङ्करजीके वीर्यसे पैदा हो। श्रीशिवजीके वीर्यमें ऐसा तेज है। उस तेजसे जो पुत्र होगा वह तारकका वध करेगा। तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा। वही पुत्र तुम्हारा सेनापति होगा। पार्वतीजीने शिवजीको पतिरूपसे पानेके लिये तप किया है और मैंने उन्हें वरदान दिया है। शिवजी समाधिस्थ हो गये हैं। तुम जाकर ऐसा उपाय करो कि उनकी समाधि छूटे और वे पार्वतीजीको ग्रहण करें। (कुमारसम्भव सर्ग २, मत्स्यपुराण अ० १४६, १५४, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड। कुमारसम्भवमें ब्रह्माजीके शब्द ये हैं कि 'तुम शिवजीके चित्तको किसी प्रकार उमाजीके रूपपर मोहित कर दो जैसे चुम्बक लोहेको आकर्षित करता है।' यथा—'**उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः। शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लौहवत्॥**' (२।५९)) पुनः, बुझाना यही है जो आगे कहा है—*'दनुजनिधन तब होइ'* से लेकर *'एहि बिधि भलेहि देव हित होई'* तक। (ख) *'बिधि'* इति। इसके यहाँ दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं—एक तो 'ब्रह्मा, विधानकर्त्ता'; दूसरे 'विधान, उपाय, प्रकार।' अर्थात् ब्रह्माजीने विधि समझाकर कही। पुनः भाव कि ये 'विधि' हैं अर्थात् विधानकर्त्ता हैं, सब विधान जानते हैं, क्या उचित कर्त्तव्य है इसके जाननेवाले तथा करनेवाले हैं; इसीसे उन्होंने सबको दुःखित देखकर दया करके विधान (उपाय) बताया, जिससे देवताओंके अधिकार उनको फिर मिल जायँ और सृष्टिका कार्य विधिपूर्वक चलता रहे। इस भावसे यहाँ *'बिधि'* नाम दिया गया। (ग) *'दनुज निधन तब होइ'* इति। जब ऐसा हो तब ऐसा हो, यह 'संभावना अलङ्कार' है। इससे जनाया कि हम तुम्हारा दुःख दूर नहीं कर सकते, उपाय बताये देते हैं जिससे दुःख दूर हो। (घ) *'संभु सुक्र संभूत सुत'* इति। भाव कि सुत तो गणेशजी भी हैं, यदि वे ज्येष्ठ पुत्र समझे जायँ (वा, *'सुर अनादि जिय जानि'* के भावसे, क्योंकि उनका पूजन इनके विवाहमें होगा ही); पर वे शम्भु-शुक्र-सम्भूत नहीं हैं। [☞इस कथनसे मत्स्यपुराण, शिवपुराण और कुमारसम्भव तीनोंके मतोंका पोषण हो जाता है। यदि यह वर माँगा हो कि शम्भु-शुक्र-सम्भूत सुतसे मरूँ तो वह भी बात आ गयी और यदि यही वर माँगा

हो कि सात दिनके बालकसे मरूँ तो भी इसमें आ गया कि ऐसा तेजस्वी पुत्र शङ्करजीके ही तेजसे सम्भव है, अन्यसे नहीं। अत: उनका विवाह कराना आवश्यक है।] संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं। इस कारण उनके वीर्यका पतन होना ही दुस्तर है। तो भी जैसे हो उनके ही वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होना चाहिये। ऊर्ध्वरेताका वीर्य परवश परस्त्रीकी कलासे पात नहीं होता। इसलिये विवाह होनेका उपाय प्रथम होना आवश्यक है।' (मा० त० वि०) और मयङ्ककार लिखते हैं कि 'वीर्य' शब्दका प्रयोग करनेका कारण यह है कि शिवजीका वीर्य पार्वती-रतिके मिष पृथ्वीपर गिरा, वहाँसे गङ्गामें प्राप्त हुआ, गङ्गासे जाम्बुनदतालमें प्राप्त हुआ। इस प्रकार अग्नि आदिमें वह वीर्य प्राप्त हुआ जिससे षण्मुख कार्तिकेयका जन्म हुआ। इस कारण वीर्य कहा।' (ङ) यहाँ 'शुक्र' शब्दमें १६६१ की पोथीमें तालव्य शकारका प्रयोग किया गया है। (च) 'शम्भुशुक्र' कहकर जनाया कि शरीरसम्भूत पुत्रसे काम न चलेगा। नहीं तो शरीरसम्भूत तो वीरभद्रादिक थे ही। (वि० त्रि०) (छ) कुमारसम्भवमें इस दोहेसे मिलता हुआ यह श्लोक है—'**संयुगे सांयुगीनं तमुद्यते प्रसहेत कः। अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः॥**' (२। ५७)

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि—'*अजर अमर सो जीति न जाई।*' कोई देवता उसे जीन न पाते थे, इसका कारण यह है कि उसका नाम 'तारक' था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका षडक्षर मन्त्र भी तारक कहलाता है। नामका सम्बन्ध होनेसे न मरता था। यह नामका महत्त्व दिखाया। अत: उसके मारनेका उपाय '*संभु सुक्र संभूत सुत*' बताया। शम्भु=शं+भु=कल्याणकी भूमि। उनके वीर्यसे सम्भूत अर्थात् सं (कल्याण) ही 'भूत' अर्थात् उत्पन्न होगा। भाव यह कि शिवके भी शिवरूप लोक-कल्याणहेतु प्रकट होंगे। शिवजी पञ्चमुख हैं और शिवसुत षण्मुख होंगे। ये शिवके भी शिव हैं, षण्मुख षडक्षरमन्त्ररूप होकर प्रकट होंगे। भगवान्‌ने देखा कि यह 'तारक' होकर जीवोंको भवसागरमें डालता है, हमारे जन्मकी निन्दा कराता है; अत: षडक्षर ब्रह्म तारकमन्त्ररूप शिवजीके द्वारा प्रकट कराया।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईश्वर करिहि सहाई॥ १॥
सतीं जो तजी दक्ष मख देहा। जनमी जाइ हिमाचल गेहा॥ २॥
तेहि तपु कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सबु त्यागी॥ ३॥

अर्थ—मेरी बात सुनकर उपाय करो, कार्य होगा, ईश्वर सहायता करेंगे॥ १॥ सतीजी जिन्होंने दक्षके यज्ञमें शरीर छोड़ दिया था उन्होंने जाकर हिमाचलके घर जन्म लिया है॥ २॥ शिवजी पति हों इस निमित्त उन्होंने तप किया (और इधर) शिवजी सब छोड़-छाड़ समाधि लगा बैठे॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*मोर कहा सुनि करहु उपाई।*······' इति। भाव कि उपाय करो और ईश्वरका भरोसा रखो कि वे कार्य सफल करेंगे। ☞यहाँ पुरुषार्थ और ईश्वरकी सहायता दोनोंको प्रधान रखा। इससे जनाया कि जीवके लिये दोनों बातें कर्त्तव्य हैं, उपाय भी और ईश्वरका भरोसा भी। यथा—'*तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥*' (४। २९) '*सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ देव जौं होइ सहाई॥*' (५। ५१) '*तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौ दैउ सहाई॥*' (६९। १) भी देखिये। (ख) '*होइहि ईश्वर करिहि सहाई*'—यह एक प्रकारसे ब्रह्माजीका आशीर्वाद हुआ। ऐसा कहा क्योंकि मनुष्यका कर्ममें अधिकार है, फल तो ईश्वरके हाथ है; यथा—'*सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥*' (ग) ['*होइहि ईश्वर करिहि*······' ये ब्रह्माजीके वचन हैं और '*होइ करै जौ दैउ सहाई।*' ये हिमाचल-प्रति नारदजीके वचन हैं। ब्रह्माजी तारकासुरको वर दे चुके हैं और इधर पार्वतीजीको भी वर दे चुके हैं तथा वे भगवान्‌के प्रभावके द्वादश प्रधान ज्ञाताओंमेंसे हैं, अत: उन्होंने निश्चय कहा—'*होइहि*', '*करिहि सहाई*'। देवर्षि नारदने '*जौं*' संदिग्ध वचन कहा; क्योंकि उन्हें पार्वतीजीका ऐश्वर्य हिमाचलसे अभी गुप्त रखना था और हिमवान्‌को पार्वतीजीको तप करने भेजनेके लिये उत्साहित करना था।]

टिप्पणी—२ '*सतीं जो तजी*······' इति। (क) '*सतीं जो*' का भाव कि संसारमें सती बहुत-सी

हैं, पर हम उन सतीको कहते हैं जो दक्षकी कन्या और शिवजीकी पत्नी थीं, जिन्होंने दक्षयज्ञमें अपना शरीर त्याग दिया था। वही पार्वतीरूपसे हिमाचलके यहाँ अवतरी हैं। पुनः, *'जो तजी'* से जनाया कि तुम वह सब वृत्तान्त जानते ही हो एवं उनको भी जानते ही हो। पुनः, *'सतीं'* कहकर जनाया कि वे पतिव्रता-शिरोमणि हैं, वे दूसरेको कभी न ब्याहेंगी, यह तुम निश्चय जानो। वे सती हैं इसीसे उन्होंने शिवजीके लिये ही तप किया। (ख) *'जनमी जाइ'''''''*। इति [*'जाइ'* का भाव कि यज्ञ तो हरिद्वार कनखलमें हुआ था। वहीं उन्होंने शरीर छोड़ा था और जन्म लिया हिमाचलके यहाँ। अतः जाकर जन्म लेना कहा। यथा—*'तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं पारबती तनु पाई॥'* (६५) (वि० त्रि०) लिखते हैं कि कालिकापुराणमें लिखा है कि उन ऊर्ध्वरेता शम्भुके वीर्यको स्थानसे प्रचलित करनेमें पार्वती ही समर्थ हैं और किसी स्त्रीमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है।— **'तमूर्ध्वरेतसं शम्भुं सैव प्रच्युतरेतसम्। कर्तुं समर्था नान्यास्ति काचिदप्यबलापरा॥'**]

टिप्पणी—३ *'तेहि तपु कीन्ह संभु पति लागी।'''''''* इति। (क) शम्भु पति होनेके लिये तप किया। भाव कि उन्हींको पतिरूपसे वरण कर चुकी हैं। यथा—*'देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा॥'* —यह स्वयं उन्होंने सप्तर्षियोंसे कहा है और ब्रह्माजीने तो वर ही दिया है कि *'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।'*, *'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी।'* वे जानते ही हैं। (ख) *'शिव समाधि बैठे'''''''* इति। भाव कि विवाहके लिये कन्या तो मौजूद ही है, पर विवाहकी कोई युक्ति बैठती नहीं कि कैसे हो। तात्पर्य कि शिवजी पार्वतीजीको अङ्गीकार नहीं करते। यही बात आगे स्पष्ट कही है, यथा—*'पारबती तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा॥'* (८९) इसीसे समाधि लगाकर बैठ गये हैं। [(ग) पूर्व कहा था कि *'लगे करन रघुनायक ध्याना।'* (८२। ४) अब ब्रह्माजीके वचनोंसे जान पड़ा कि ध्यानमें समाधि लग गयी।] (घ) *'सबु त्यागी'* अर्थात् सब संग, सबका ममत्व इत्यादि त्यागकर। यथा—*'भजहु नाथ ममता सब त्यागी।'* (६। ७) (मन्दोदरीवाक्य),*'एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा।'* (३। ८)

जदपि अहै असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी॥ ४॥
पठवहु कामु जाइ शिव पाहीं। करै छोभु संकर मन माहीं॥ ५॥
तब हम जाइ शिवहि सिर नाई। करवाउब बिबाहु बरिआई॥ ६॥

अर्थ—यद्यपि है तो बड़ा ही असमञ्जस (दुविधा, सन्देह, शक) तथापि हमारी एक बात सुनो॥ ४॥ जाकर कामदेवको शिवजीके पास भेजो। वह जाकर शङ्करजीके मनमें क्षोभ (चञ्चलता, विचलता, खलबली) उत्पन्न करे। (जिससे समाधिसे मन विचलित हो, समाधि टूट जाय)॥ ५॥ तब हम जाकर शिवजीके चरणोंमें माथा नवाकर जबरदस्ती ब्याह करवा देंगे॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'अहै असमंजस भारी'* इति। भाव कि प्रथम तो यही असमञ्जस है कि न जाने समाधि कब छूटे। दूसरे, यदि प्रयत्न भी किया जाय तब भी उसका एक तो छुड़ाना ही दुस्तर है और कदाचित् प्रयत्नसे छूट भी जाय तो छुड़ानेवालेकी खैरियत नहीं, वह बच नहीं सकता। तीसरे, समाधि छूटनेपर भी विवाह करना कठिन है। (ख) *'पठवहु कामु जाइ'''''''* इति। समाधि छुड़ानेका यह उपाय बताया। [*'जाइ'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगेगा। जाकर भेजो और वह *'जाइ शिव पाहीं।'* अथवा अन्वय यों करें—*'जाइ, पठवहु कामु शिव पाहीं'* जाकर कामदेवको शिवजीके पास भेजो। इससे जनाया कि कामदेवका आवाहन ब्रह्माजीके सामने नहीं हुआ। अन्यत्र हुआ। ब्रह्माजीसे सलाह लेकर देवता ब्रह्मलोक वा सुमेरुपरसे (जहाँ ब्रह्माजीकी कचहरी है) लौट गये। यही बात *'सुरन्ह कही निज बिपति'''''''।'* (८३) से भी पायी जाती है। कुमारसम्भवमें भी ऐसा ही है; यथा—**'इति व्याहृत्य विबुधान् विश्वयोनिस्तिरोदधे। मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः॥ तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत् पाकशासनः। मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वरा द्विगुणरंहसा॥'** (२। ६२-६३) अर्थात् ब्रह्माजी देवताओंसे इस प्रकार कहकर अन्तर्धान हो गये तब देवता

मनसे अपने कर्तव्यका निश्चय करके स्वर्गको गये और वहाँ झटपट कामदेवका स्मरण किया। यदि 'जाई' को *'शिव पाहीं'* के ही साथ समझें तो यह भी भाव हो सकता है कि देवता सब वहीं बने रहे और वहीं उन्होंने कामदेवका आवाहन किया और जबतक 'समाधि' नहीं छूटी तबतक देवता वहीं रहे। (८८। ४) भी देखिये। (ग) *'करौं छोभु संकर मन माहीं'* इति। शंकरजीका मन इस समय समाधिमें स्थिर है, अतः मनमें क्षोभ करनेको कहा। *'क्षुभ सञ्चलने।'* मन चञ्चल होनेसे समाधि छूट जायगी क्योंकि समाधि निर्विकार चित्तैकसाध्य है। *'मन माहीं'* कहनेका भाव कि कामदेवका स्थान मन ही है, इसीसे उसके मनसिज, मनोज आदि नाम हैं। अतः वह शङ्करजीके मनतक पहुँच सकता है, दूसरेकी पहुँच वहाँ नहीं हो सकती। पुनः, मनमें क्षोभ करनेको कहा; क्योंकि महात्मा पुरुष निष्कम्प—अविचल होते हैं। उनके मनको वश करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मन ही इन्द्रियोंके समुदायका रूप है। मनको क्षुब्ध करनेपर ही महात्माओंपर विजय हो सकती है। अतः समझाया कि कामको भेजो कि वह अन्तःकरणमें प्रवेश करके इन्द्रियसमुदायको व्याप्त कर रमणीय साधनोंद्वारा कार्य सिद्ध करे।]

टिप्पणी—२ *'तब हम जाइ'''''''* इति। (क) देवताओंने ब्रह्माजीसे पुकार की, अतः उन्होंने उपाय बताया कि इस तरह जाकर समाधि छुड़ानेका प्रयत्न करो। फिर आगे विवाह करानेका काम स्वयं करनेको कहा—यह सहायता उन्होंने अपनी ओरसे देनेको कही। *'सिरु नाई'* का भाव कि जब किसीसे कोई काम जबरदस्ती कराना होता है तब उसका यही उपाय है। बड़प्पन छोड़ सिर चरणोंपर रख देनेसे देवता प्रसन्न हो जाते हैं। ऐंठसे बरिआई नहीं चलती। भाव कि उनको प्रणाम करेंगे और काम निकाल लेंगे। 'वे सप्तर्षिसे हिमाचलको कहला चुके हैं, तब विवाह कैसे न करेंगे!' यह बरिआईका भाव है।

एहि बिधि भलेहि[1] देवहित होई। मत अति नीक कहै सबु कोई॥ ७॥
प्रस्तुति[2] सुरन्ह कीन्हि अति[3] हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू[4]॥ ८॥

शब्दार्थ—**प्रस्तुति** (सं०)= प्रकर्षेण स्तुति=अत्यन्त स्तुति; प्रशंसा। **हेतु**=प्रेम, अनुराग; यथा—*'पति हिय हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥'* (१। १०७)। **झख**=मछली। **झखकेतू**=जिसकी ध्वजापर मछलीका चिह्न है—(८४। ६) *'कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू'* देखिये।

अर्थ—इस तरह भले ही देवताओंका हित होगा (अन्य उपाय नहीं है)। (यह सुनकर) सब कोई बोल उठे कि सलाह बहुत ही अच्छी है॥ ७॥ देवताओंने अत्यन्त अनुरागसे कामदेवकी भारी स्तुति की (तब) पञ्चबाणधारी मकरध्वज कामदेव प्रकट हुआ॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि भलेहि देवहित होई।'''''''* इति। (क) *'भलेहि'*=भले ही।=भलीभाँति। यहाँ ये दोनों अर्थ घटित होते हैं। इस अर्धालीका अर्थ कोई ऐसा भी करते हैं—'सब कोई कहने लगे कि यह मत बहुत अच्छा है, इस प्रकार देवताओंका पूरा हित होगा।' (ख) *'देवहित होई'* इति। क्या हित होगा? मुख्य हित तारक-वध है; यथा—*'सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ।'* तारक-वधसे देवगण

१-भले— १७०४।

२-अस्तुति—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। प्रस्तुति—१६६१। 'प्रस्तुति' पाठ १६६१ की पोथीका है। सम्भवतः इसको लेखप्रमाद समझकर वा इसका अर्थ न समझकर लोगोंने 'अस्तुति' पाठ कर दिया है। यह संस्कृत-भाषाका शब्द है। इसमें 'स्मरण, आवाहन और प्रकर्ष करके स्तुति एवं अत्यन्त प्रशंसा' के भाव एक साथ चित्तमें आ जाते हैं। सबसे प्राचीन पाठ होनेके अतिरिक्त भावपूर्ण होनेसे यही पाठ उत्तम लगता है।

३-अस हेतू—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। अति हेतू—१६६१, १७०४। 'हेतू' का अर्थ प्रायः 'कारण' ही होता है। सम्भव है कि वह अर्थ ठीक न बैठनेसे 'अति' के स्थानपर 'अस' पाठ कर दिया गया। 'अस हेतू' का अर्थ 'इस हेतुसे, इस अभिप्रायसे, इस कारणसे, करना होगा। पर टीकाकारोंने—'हेतु ऐसा है कि (जिसकी स्तुति नहीं की) उसकी स्तुति कर रहे हैं।' यह अर्थ किया है।

४-बान झखकेतू— १६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० राम। बारिचर केतू—१७०४। परन्तु रा० प्र० में 'बाम झखकेतू' ही है।

फिर स्ववश बसेंगे। [पुनः भाव कि समाधि-भङ्गके अन्य उपाय भी हैं, पर उनके करनेसे समाधि-भङ्ग होनेपर शिवजी कारणकी खोज करेंगे, देवताओंपर विपत्ति बिना आये न रहेगी। अतः उनसे भली प्रकार हित न होगा। और कामकी उत्पत्ति ही मनःक्षोभके लिये है, अतः उसके समाधि भङ्ग करनेपर कारणकी खोज न होगी। वि० त्रि०] (ग) *'मत अति नीक कहै सब कोई'* इति। जो मत सबके मनको भाता है, उससे अवश्य कार्य सिद्ध होता है; यथा—*'नीक मंत्र सबके मन भावा।'* तात्पर्य कि सब सहमत हुए।

टिप्पणी—२ *'प्रस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू……'* इति। (क) कामदेवके आविर्भावके लिये अत्यन्त स्नेहसे भारी स्तुति की। हेतु=प्रेम; यथा—*'हरषे हेतु हेरि हर ही को॥'* (१। १९) *चले संग हिमवंत तब पहुँचावन अति हेतु॥'* (१०२) (ख) *'प्रगटेउ'* कहा क्योंकि काम तो सर्वत्र व्यापक है, मनमें ही उसका निवास रहता है, अतः स्तुति करनेपर वहीं प्रकट हो गया। [देवगण आर्त थे, इसलिये उन्होंने प्रकर्षरूपसे स्तुति की, नहीं तो कामदेव बुलवा लिये जाते। यथा—*'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना॥'* (१२५। ५) (वि० त्रि०)] (ग) *'बिषम बान'* इति। [विषम=पाँच।=तीक्ष्ण।-मनमें विषमता अर्थात् विकार उत्पन्न करनेवाले।=कठिन जिससे कोई उबर (बच) न सके] कामदेवके बाणोंकी विषमता शिवजी भी न सह सके; यथा—*'छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥'* (८७) अतः बाणोंको *'बिषम'* विशेषण दिया।

नोट—१ ☞कामदेव पञ्चबाणधारी कहा जाता है। वे पञ्च बाण क्या हैं—इसमें कई मत हैं। (क) पं० रामवल्लभाशरणजी प्रमाणका एक श्लोक यह बताते थे जो अमरकोशकी टीकामें भी है—**'उन्मादस्तापनश्चैव शोषणस्तम्भनस्तथा। सम्मोहनश्च कामश्च बाणाः पञ्च प्रकीर्तिताः॥'** बाबा हरिहरप्रसादजी तथा मुं० रोशनलालजी इसीको भाषामें यों लिखते हैं—*'वशीकरन मोहन कहत आकर्षण कवि लोग। उच्चाटन मारन समुझु पंच बाण ये योग॥'* श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'आकर्षण, उच्चाटन, मारण और वशीकरण ये चारों कामदेवके धनुष हैं। कम्पन पनच है और मोहन, स्तम्भन, शोषण, दहन तथा वन्दन—ये पाँच बाण हैं पर सुमनरूप हैं।' (ख) ये पाँच फूल कौन हैं? पंजाबीजी, पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी तथा अमरकोश-टीकाके अनुसार वे पाँच पुष्प ये हैं—**'अरविन्दमशोकञ्च चूतं च नव मल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥'** मुं० रोशनलाल एवं बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि *'करना केतिक केवड़ा कदम आमके बौर। ए पाँचो शर कामके केशवदास न और॥'* पंजाबीजी 'लालकमल, अशोकपुष्प, आमका बौर, चमेली और इन्दीवर' नाम लिखते हैं। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि केवड़ा उच्चाटन, केतकी आकर्षण, कमल मोहन, गुलाब वशीकरण, करवीर (कनेर) मारण—ये पञ्च पुष्पबाण हैं। ☞यहाँतक अनेक महात्माओंकी सम्मति लगभग एक-सी है। पर किसी-किसीके मतानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विकार ही पञ्चबाण हैं। पर इस मतका कोई प्रमाण दासको नहीं मिला।

नोट—२ ☞पञ्चबाण धारण करनेका भाव यह कहा जाता है कि 'यह शरीर पञ्चतत्त्वों—पृथ्वी, जल, पावक, वायु और आकाशसे ही बना है। इस कारण एक-एक तत्त्वको भेदन करनेके लिये एक-एक बाण धारण किया है। कामदेवके बाण प्रायः पुष्पोंके ही माने गये हैं और श्रीमद्गोस्वामीजीका भी यही मत है। यथा—*'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥'* (२। २५) धनुष और बाण दोनों फूलके हैं; यथा—*'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥'* (१। २५७) *'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥'* (८४। ३)

☞विषम बाण और झखकेतु ये दोनों वशीकरण और विजयके आयुध साथ दिखाकर जनाया कि विजय प्राप्त होगी। मीन वशीकरणका चिह्न माना जाता है।

दोहा—सुरन्ह कही निज बिपति सब पुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार॥ ८३॥

अर्थ—देवताओंने अपनी सारी विपत्ति उससे कह सुनायी। कामदेवने सुनकर मनमें विचार किया। (फिर) हँसकर उनसे यों कहा कि शिवजीके बैरसे मेरी कुशल नहीं॥ ८३॥

टिप्पणी—१ (क) *'मन कीन्ह बिचार'* कहकर जनाया कि *'संभु बिरोध न कुसल मोहि'* यह उसने मनमें विचार किया और फिर यही बात स्पष्ट कह भी दी। (ख) *'संभु बिरोध न कुसल'* इति। भाव कि वे शम्भु हैं, कल्याणकी उत्पत्ति करनेवाले हैं, कल्याणकर्त्ता हैं, जब कल्याणकर्त्तासे ही विरोध किया जायगा तब कल्याण कैसे हो सकता है? कुशल और कल्याण पर्याय है।

नोट—१ *'बिहसि कहेउ अस मार'* इति। यहाँ हँसनेमें व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यंग्य है कि ये सब ऐसे स्वार्थपरायण हैं कि अपना हित-साधनके लिये दूसरेको आगमें झोंकते हैं; इन्हें अपना काम बननेसे प्रयोजन है चाहे दूसरेका उससे नाश ही क्यों न हो। यथा—*'कपट कुचालि सींवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥'* (२। ३०२) महानुभावोंने हँसनेके अनेक भाव लिखे हैं—(१) मेरे पराक्रमको देवता लोग अच्छी तरह जानते हैं कि मैं ईश्वरके मनमें भी क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाला हूँ। इसीसे वे मुझे ऐसे वीरके सामने भेजते हैं। अर्थात् अपनी शूरताके गर्वसे हँसा। (पं०, रा० प्र०) (२) 'ये विबुध (विशेष बुद्धिमान्) कहलाते हैं पर इनकी बुद्धिमें यह नहीं आता कि शिवजी तो 'अमन' (जिनके मन है ही नहीं) हैं। जब मन ही नहीं है तब हमारा वहाँ गुजर कहाँ? क्योंकि हम तो मनजात वा मनसिज ही हैं, मनहीमें प्रभाव भी डालते हैं।' (रा० प्र०) (३) 'ये सुमेरुको सेरसे मिलाया चाहते हैं। कहाँ तो सुमेरुवत् शिवजी और कहाँ सेर-समान मैं; हमारा-उनका जोड़ कहाँ?' (रा० प्र०) (४) कामदेव सोचता है कि *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥'* (२। २५)—यह मेरा प्रभाव है, ऐसा मैं हूँ। मैं अपने सामने अबतक किसीको कुछ न समझता था, पर इन्होंने आज मुझे शङ्कर-ऐसे वीरसे भिड़ाया कि जहाँ जाकर फिर कुशल नहीं। पर क्या हानि है? वीरका काम ही समरमें सम्मुख लड़कर मरना है, यही वीरकी शोभा है; यथा—*'सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा॥'* (६। ४१) (पं०, रा० प्र०) (५) देवता यह नहीं सोचते कि मेरी मृत्यु हो जायगी तो उनको भी तो भोगका सुख न मिलेगा। (पं०)—(मेरी समझमें हँसनेका कारण गर्व नहीं हो सकता, क्योंकि आगे वह स्वयं कह रहा है कि *'श्रुति कह परम धरम उपकारा।'* इससे विरोध होगा।) (६) यह मोहदलका प्रथम वीर है, अतः मृत्युपर हँसा—'**शूराणां मरणं तृणम्।**' (वि० त्रि०)।

नोट—२ *'कहेउ अस मार'* इति। *'मार'* का भाव कि अभीतक तो मैं सबका मारनेवाला कहलाता था, परन्तु अब मेरी ही मृत्यु जान पड़ती है। *'मार'*=कामदेव। *'मार'* का एक अर्थ कोशमें 'जिसपर मार पड़ती है' यह भी दिया है। इस प्रकार एक भाव यह भी निकल सकता है कि 'जिसपर मार पड़नेको है, जिसका नाश होनेको है, वह कामदेव बोला।' कुशल नहीं है, इसीसे *'मार'* नाम दिया। पुनः, 'राम' का उलटा *'मार'* है। भगवान् शङ्करके हृदयमें 'राम' विराजमान हैं; यथा—*'लगे करन रघुनायक ध्याना।'* वह इस ध्यानको उलटने जा रहा है; अतः *'मार'* नाम दिया गया। 'राम' की जगह *'मार'* होनेपर खैरियत नहीं, मारा ही जायगा। 'मार' यह नाम आगे फिर ऐसा ही विचार उठनेपर महाकविजीने दिया है; यथा—*'चलत मार अस हृदय बिचारा। सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा॥'* अतः *'मार'* शब्दके प्रयोगका यह भाव सुसंगत भी है। *'अस'*—अर्थात् *'संभु बिरोध न कुसल मोहि। तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।''''''* इत्यादि।

तदपि करब मैं काजु तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥ १॥
परहित लागि तजै जो* देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥ २॥

अर्थ—तो भी मैं तुम्हारा काम करूँगा। श्रुति (वेद) कहती है कि परोपकार परम धर्म है॥ १॥ दूसरेके हितके लिये जो शरीर त्याग देता है, संत उसकी सदा बड़ाई करते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।''''''* इति। (क) *'तदपि'* का भाव कि अपनी मृत्युकी किञ्चित् परवा (चिंता) न करके आप लोगोंका काम करूँगा। ☞यह कामका सत्पुरुषत्व दिखाते हैं।

* जे—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। जो—१६६१, को० रा०।

(ख) *'श्रुति कह परम धरम उपकारा।'* इति। [उपकार परम धर्म है, यथा—*'पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ निर्नय सकल पुरान बेद कर।'* (७। ४१) 'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥' अर्थात् व्यासजीके अठारहों पुराणोंका सारांश ये दो वचन हैं—परोपकार ही पुण्य है और परपीड़ा ही पाप है। भर्तृहरिजीने भी कहा है—**'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥'** (नीतिशतक ७५) अर्थात् वे ही लोग सत्पुरुष हैं जो अपना स्वार्थ त्यागकर निःस्वार्थभावसे दूसरोंके कार्यका सम्पादन करते हैं। जो अपना स्वार्थ रखते हुए भी दूसरोंके कार्यमें उद्यम करते हैं वे सामान्य मनुष्य हैं और जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंको हानि पहुँचाते हैं, कष्ट देते हैं, दूसरोंका काम बिगाड़ते हैं वे मनुष्यरूपमें राक्षस ही हैं। परन्तु हमारी समझमें नहीं आता कि वे कौन हैं, उनको किस नामसे पुकारा जाय कि जो बिना प्रयोजन ही दूसरोंके हितकी हानि करते हैं। ☞सब देवताओंका तो हित होगा, एक हमारी मृत्यु हो जायगी तो हो जायगी। यही उपकार 'सत्पुरुषता' है। *'श्रुति कह परम धरम उपकारा'* इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि इस परोपकारके विचारसे ही वह इस कार्यमें तत्पर हो रहा है। उपकारको परम धर्म कहकर जनाया कि आत्मरक्षा धर्म है।]

टिप्पणी—२ *'परहित लागि तजै जो देही।......'* इति। (क) कहनेका आशय यह है कि अभीतक तो वीरोंमें मेरी गिनती रही, वीरोंमें ही प्रशंसा होती रही और अब परोपकारियोंमें प्रशंसा होगी। (ख) *'संतत संत प्रसंसहिं तेही'* इति। यहाँ सन्तका प्रशंसा करना कहा। शुकदेवजी, विप्र, सुकवि और बुध आदिका प्रशंसा करना न लिखा, यह क्यों? इसका कारण यह है कि मन, वचन और कर्मसे परोपकार करना सन्तोंका ही स्वभाव है; यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* *'संत सहहिं दुख पर हित लागी।'* (७। १२१) इसीसे ये सदा प्रशंसा भी करते हैं। सुकवि कुछ असत्य भी जोड़ गाँठ लिया करते हैं। कामदेवको एक बड़प्पन तो यही मिल गया कि उसकी गणना चार पदार्थों (पुरुषार्थों) में होने लगी। यथा—*'गुरु संगति गुरु होइ सो लघु संगति लघु नाम। चारि पदारथमें गने नरकद्वारहू काम॥'* (दोहावली ३५९) (रा० प्र०) अथवा भाव कि आजतक मेरी गिनती षड्रिपुमें रही, सन्त मेरी निन्दा करते रहे, अब परोपकारके लिये शरीर छोड़नेसे सन्त-समाजमें मेरी प्रशंसा सदा होगी। (वि० त्रि०) (ग) सन्त मन-कर्म-वचनसे परोपकार करते हैं। उनका प्रशंसा करना कहा है, अतः कामदेवको परोपकारमें मन-कर्म-वचनसे तत्परता भी यहाँ दिखायी है। यथा—*'सुनि मन कीन्ह बिचार'*, मनसे विचार किया कि मरण होगा पर यह उपकारका काम है, अतएव कर्तव्य है; *'तदपि करब'* यह मनसे तत्पर दिखाया। *'तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।......अस कहि॥'* यह वचनसे परोपकारमें तत्पर जनाया और *'चलेउ सबहिं सिरु नाई'* इत्यादि कर्मकी तत्परता है। [(१) सरस्वतीजीको जब देवताओंने रामवनवास करानेके लिये संकोचमें डाला तब उसने भी कुछ ऐसा ही विचारकर हर्षपूर्वक देवताओंका काम करनेको दशरथपुर प्रस्थान किया था। यथा—*'आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥ हरषि हृदय दसरथपुर आई।'* (२। १२) (२) यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है। पहले साधारण सिद्धान्त कहा कि *'श्रुति कह परम धरम उपकारा'*, फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन किया कि सन्त सदा परोपकारमें प्राण समर्पण कर देनेवालोंकी प्रशंसा करते हैं। (३) मानसमें इस वाक्यका उदाहरण मिल जाता है। श्रीरामजीने गीधराजकी प्रशंसा की है; यथा—*'जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥ परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥'* (३। ३१) श्रीरामजी सन्त हैं, यथा—*'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।'* (२। ३२)]

अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित* सहाई॥ ३॥
चलत मार अस हृदय बिचारा। शिव बिरोध ध्रुव मरन हमारा॥ ४॥

* लेत—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सहित—१६६१, १७०४, को० रा०।

अर्थ—ऐसा कह सबको सिर नवा, हाथोंमें पुष्प धनुष (बाण और ध्वजा) लिये हुए सहायकोंसहित वह चला॥ ३॥ चलते समय कामदेवने हृदयमें ऐसा विचार किया कि शिवजीसे वैर करनेसे हमारा मरण निश्चय है॥ ४॥

टिप्पणी—१(क) *'अस कहि'* उपसंहार है। *'संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार।'*...... 'इसका उपक्रम है। यहाँतक कामके वचन लिखे गये। [(ख) *'सिरु नाई'* इति। ☞विदा होते समय बड़ों और बराबरवालोंको प्रणाम करना शिष्टाचार है और यहाँ तो इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि समस्त देवगणोंका ही समाज एकत्र है, उसपर भी इन्द्र देवताओंका राजा ही है। इसलिये प्रणाम उचित ही है। पुनः बड़ोंको प्रणाम करके चलनेसे उनका हार्दिक आशीर्वाद साथ रहता है, जिससे कार्यमें सफलता होती है। यथा—*'अस कहि नाइ सबन्ह कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥'* (हनुमान्‌जी ५। ४), *'अंगद चलेउ सबहिं सिरु नाई।'* (६। १८) *'रघुपति चरन नाइ सिर चलेउ तुरंत अनंत।'* (६। ७४) ☞स्मरण रहे कि ग्रन्थमें महाकविने बराबर दिखाया है कि जहाँ प्रणाम नहीं किया गया है वहाँ प्रायः कार्यकी सिद्धि नहीं हुई है; यथा—*'सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचर केतू॥'* (१। १२५) (कामदेव नारदकी समाधि न छुड़ा सका); *'आयसु मागि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥'* (६। ५१) (लक्ष्मणजी शक्तिसे मूर्च्छित हुए)। इत्यादि। [कुछ महानुभावोंने *'सिरु नाई'* के ये भाव लिखे हैं—(१) कामदेवने अनुमानसे निश्चय किया है कि *'सिव बिरोध ध्रुव मरन हमारा।'* इसलिये उसने सोचा कि इस तनसे यह अन्तिम दण्डवत् तो कर लूँ, फिर शरीर रहे न रहे। (पं०) (२) *'सबहि सिरु नाई'* अर्थात् सभीने सिर नीचा कर लिया, इस विचारसे कि हमारा यह ऐसा सच्चा सेवक सहायक मारा न जाय। अथवा, सबका सिर नवा दिया। इत्यादि। परंतु ये भावार्थ संगत प्रतीत नहीं होते।] (ख) *'सुमन धनुष कर सहित सहाई'* इति। ☞ये कामदेवके आयुध और बल वा सेना हैं। वन, ऋतुराज वसन्त, भ्रमर, कोकिलादि पक्षी इत्यादि कामके सहायक सैन्य और सुभट हैं, यथा—*'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥ देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात॥'* (३। ३७) *बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी॥ कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥ बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥ कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥ कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥ मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥ तीतिर लावक पदचर जूथा। <u>बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥</u> रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना॥ मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयारि बसीठी आई॥ चतुरंगिनी सेन सब लीन्हें। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें॥ लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥ एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥'* (३। ३८) (ग) ☞*'सुमन धनुष कर'* इति। [कामका धनुष फूलोंका बना हुआ है, उसका नाम उन्मादन प्रसिद्ध है, जो स्त्रीकी भौंहोंके तुल्य चलनेवाला है। यथा—**'ततः कामोऽपि कोदण्डमादाय कुसुमोद्भवम्। उन्मादनेति विख्यातं कान्ताभ्रूतुल्यवल्गितम्॥'** (का० पु०) (वि० त्रि०)] यहाँ लोग शङ्का करते हैं कि यहाँ धनुषका हाथमें लेना कहा, परन्तु बाणका नाम नहीं लिया, यह क्यों? बिना बाणके धनुष व्यर्थ ही है।' समाधान यह है कि जब कामदेव प्रकट हुआ तब उसके साथ ध्वजा और बाणका वर्णन कर चुके थे; यथा—*'प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू।'* अब चलते समय *'सुमन धनुष'* भी साथ होना कह दिया। दोनों जगह दोनोंको समझना चाहिये। इस प्रकार दोनों मिलाकर कामदेवका पूरा स्वरूप कहा गया। ☞यह श्रीमद्गोस्वामीजीकी शैली है कि जब कोई बात दो या अधिक जगह लिखनी होती है तब वे प्रायः उसका कुछ अंश एक जगह लिख देते हैं और कुछ दूसरी जगह। अर्थ लगाते समय दोनोंको सर्वत्र समझ लेना होता है। इसी तरह यहाँ अर्थ लगानेमें ध्वजा, धनुष और सरको दोनों ठौर ले लेना चाहिये। [दूसरे, *'सुमन धनुष'*=सुमन (विषम बाण) और सुमन धनुष। पुष्प ही उसके बाण हैं, अतः *'सुमन'* से उसे भी कह दिया। इस तरह भी समाधान कर सकते हैं। धनुष-बाण दोनों साथ हैं यह आगे स्पष्ट कहा है यथा—*'दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा।'* (८४)]

टिप्पणी—२ '*चलत मार अस हृदय बिचारा।*……' इति। (क) मरण निश्चय है, अतः 'मार' नाम दिया। दोहा ८३ भी देखिये। (ख) शिव-विरोधसे मरण निश्चय किया। 'शिव' से वैर करना कल्याणसे वैर करना है; अतः अकल्याण छोड़ और क्या हो सकता है? पुनः, 'शिवविरोधमें मरणका निश्चय इससे किया कि शिवजी परम भागवत हैं; यथा—'*संतद्रोह जिमि कर कुल नासा।*' अम्बरीष-दुर्वासाकी कथा प्रसिद्ध ही है। —'**साधुसज्जनसंतापात्क्रिमाश्चर्यं कुलक्षयः।**' साधुसन्तोंके सन्तापसे कुलका क्षय होता है, इसमें आश्चर्य ही क्या?' (पं०) [कामदेवको ब्रह्माका शाप था कि तू शम्भुकी नेत्राग्निसे निःसंशय जल जायगा, उस शापका स्मरण कर उसने मनसे '*ध्रुव मरन हमारा*' ऐसा विचार किया। यथा—'**प्रातकालश्च सस्मार शापं ब्रह्मकृतं पुरा। शम्भुनेत्राग्निदग्धस्त्वं भविष्यसि न संशयः॥**' (का० पु०) (वि० त्रि०)] यहाँ 'अनुमान प्रमाण' अलङ्कार है। (ग) यहाँ '*ध्रुव*' शब्द बीचमें होनेसे उसके हृदयका निश्चय भी बताता है। '*शिव बिरोध ध्रुव*' अर्थात् परोपकारार्थ विरोध करना आवश्यक है, अतएव वह तो निश्चय ही करूँगा और '*ध्रुव मरन हमारा*' यह उसका फल भी निश्चय ही है। ये दोनों विचार उठे। (घ) ऊपर उसने अपने लिये एक वचन 'मैं' का ही प्रयोग किया था, यथा—'*संभुबिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार*' '*तदपि करब मैं काजु तुम्हारा।*' पर यहाँ उसने '*शिव बिरोध ध्रुव मरन हमारा*' कहा। '*हमारा*' बहुवचन पद देकर जनाया कि मेरा ही मरण नहीं, किन्तु मेरे साथ सब सहायकोंका भी मरण है। क्योंकि यह विचार '*अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥*' के पश्चात्का है, जब सहायक भी उसके साथ हैं। अथवा, '*शिव बिरोध*' करनेका दृढ़ संकल्प करनेसे अलङ्कारसे '*हमारा*' कहा। आगे '*तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।*……' में गर्व और मद संचारी भाव झलक भी रहे हैं।

तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥५॥
कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥६॥

अर्थ—तब उसने अपना प्रभाव फैलाया और सारे संसारको अपने वश कर लिया॥५॥ ज्यों ही मीनध्वज कामदेवने कोप किया त्यों ही क्षणमात्रमें समस्त वेदमर्यादा मिट गयी॥६॥

नोट—१ '*तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।*……' इति। (क) तात्पर्य कि आखिर मरना तो है ही, तो विनाशकालमें भी संसारको अपना प्रभाव दिखाकर ही क्यों न मरूँ? कम-से-कम लोगोंको यह तो दिखा ही दूँ कि मैं कैसा पुरुषार्थी रहा हूँ। (यहाँ गर्व और मद संचारी भाव हैं।) (पं० रा० कु०) (ख) '*निज बस कीन्ह सकल*……' इति। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'कार्य तो था केवल शङ्करजीको विजय करनेका, सारे संसारको इसने क्यों सताया?' इसका समाधान भी लोगोंने अनेक प्रकारसे किया है।— (१) एक यह कि उसने यह सोचा-विचारा कि हमारी मृत्यु तो होगी ही, पर लोग यह न समझें कि मेरा प्रभाव कुछ नहीं है, इससे अपना प्रभाव दिखा दूँ कि मैं कैसा वीर हूँ। (वै०, रा० प्र०) (२) दूसरे यह कि शिवजीको आगे 'दुराधर्ष' कहा है, यथा—'*रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना॥*' यदि प्रथम कामका विश्वविजयी होना न दिखाते तो श्रीशङ्करजीकी उत्कर्षता न पायी जाती। इसका प्रभाव देख लेनेपर अब लोग शङ्करजीकी प्रशंसा करेंगे कि ऐसे विश्वविजयी कामको उन्होंने जला दिया। (वन्दन पाठकजी) (३) तीसरे यह कि काम सबके हृदयमें रहता है। जब उसने शिवजीके विजयके लिये अपना प्रभाव डाला तो जगत् आप-से-आप वशमें हो गया। (वन्दन पाठकजी) (४) चौथे यह कि शत्रुपर चढ़ाईके समय जो भी सम्मुख पड़ जाता है, उसपर भी वार हो ही जाता है, यह रीति है। (वन्दन पाठकजी) (५) पाँचवें यह कि 'जब किसीकी मृत्यु निकट होती है तब उसका प्रताप अत्यन्त तप जाता है अतएव कामको विश्वविजयी गाया।' (वन्दन पाठकजी) (६) जब बड़ी वस्तु जलानी होती है तब अग्नि भी बड़ी ही प्रकट करनी होती है और अग्नि जितनी ही अधिक बड़ी होती है उतनी ही अधिक दूरतक उसका ताप भी चारों ओर फैलता है। इसी तरह कामदेवको शिवजीके विजयके लिये अपनी पूरी शक्ति लगानी

पड़ी और सर्वव्यापक होनेसे सभीपर उसका प्रभाव पड़ गया। (७) विश्वनाथपर प्रहार करनेके पहले विश्वको वश्य करना चाहिये। राजापर वार करनेसे पहले उसके राज्यपर आक्रमण करना चाहिये। (वि० त्रि०)

नोट—२ *'कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू।'……'* इति। ☞यह अर्धाली सूत्ररूप है और इसके आगेकी चौपाई व्याख्यारूप है। **बारिचर**=जलमें चलनेवाली=मछली, मीन। ध्वजामें मछलीका चिह्न धारण करनेके कारण ये कहे जाते हैं—(१) कामका नाम मनसिज है, मनसे ही इसकी उत्पत्ति है। मन चंचल है, काम भी चंचल है और मीन भी चंचल। जो जैसा होता है वैसा ही संगी, साथी, सम्बन्धी ढूँढ़ता है। इसीसे उसने अपनी ध्वजापर मीनका चिह्न धारण किया। (पं०) (२) यहाँ *'बारिचर'*—शब्दका प्रयोग खूबी, चोखाई और अभिप्रायसे खाली नहीं। *'बारि'* में एक मछलीहीका सच्चा स्नेह है, जलसे उसका वियोग हुआ नहीं कि उसने प्राण दे दिये। यथा—*'मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥'* (दोहावली ३१८) अन्य जलचर जलके बाहर भी रह जाते हैं, पर मीन एक पल भी जलसे बाहर नहीं रह सकती। जब ध्वजामें मीन है तब वहाँतक जल भी रहना (उसको जीवित रखनेके लिये) परमावश्यक है। अत: *'बारिचरकेतू'* नाम देकर सूचित करते हैं कि वह कामरूपी जलकी बाढ़को ध्वजातक पहुँचा देगा तब भला धर्मका पताका क्योंकर रह सकता है? जलकी बाढ़में बाँधों और पुलोंके टूटनेका भी भय रहता है। यहाँ ध्वजातक जल चढ़ा, इसीसे श्रुतियोंके सेतु (पुल) डूब गये। (पं०) (३) *'बारिचरकेतू'* और *'श्रुति सेतु'* कथनका आशय कि मछली जलके तले (भीतर) ही रहती है सो पताकापर चली गयी, इतना अधर्म-जल बढ़ा, अत: श्रुतियोंकी बाँधी हुई मर्यादा न रह गयी तो आश्चर्य ही क्या? पुन: भाव कि वेदोंकी रक्षाहेतु मत्स्यावतार होता है, इसीसे उसने मत्स्यको ध्वजापर धारणकर श्रुतिसेतुको तोड़ना शुरू किया कि अब कैसे जाकर वेदोंका उद्धार करेंगे। पुन: मीन और काम दोनों तमोगुणी हैं और दोनोंकी वृत्ति जलमय होती है। काम द्रव्यरूप ही है। यथा—*'होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥'* (३। १७) वैसे ही यह सबकी वृत्तिको काममय कर देता है। (पं० रा० कु०) दोहा १२५ की छठी अर्धाली *'चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू'* भी देखिये। मीन वशीकरणका चिह्न है। ध्वजापर यह चिह्न है। ध्वजापर यह चिह्न कहकर बताते हैं कि वह सारे ब्रह्माण्डको वशमें किये हुए है। यथा—*'मीन बिंदु रामचन्द्र कीन्ह्यो बशीकरण पाँय ताहि ते निकाय जनमन जात हर्‌यो है।'* (भक्तिरसबोधिनीटीका भक्तमाल)

नोट—३ *'छन महुँ मिटे……'* इति। (क) *'छन महुँ'* अर्थात् थोड़ी ही देरमें; क्योंकि कामका सारा कौतुक केवल चार दण्डतक तो रहा ही था। यथा—*'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कान कृत कौतुक अयं।'* और *'उभय घरी अस कौतुक भयऊ।'* (ख) श्रुतिसेतु=वेदोंने जो वर्णाश्रम सदाचार आदि धर्मकी मर्यादा बाँध दी है। इसका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार आगेकी चौपाइयोंमें कर रहे हैं। 'श्रुतिसेतु सूत्ररूप है, आगे इसकी व्याख्या है। ब्रह्मचर्यादि वेदोंके बाँधे हुए पुल हैं। (ग) लड़ाईमें जिन पुलोंसे सहायता मिलती है वे पहले तोड़े जाते हैं। अत: पहला काम उसने यह किया कि श्रुति सेतुको तोड़ डाला। (वि० त्रि०)

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥ ७॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥ ८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य, व्रत और अनेक प्रकारके संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग और वैराग्य (यह) विवेककी सारी सेना भयभीत होकर भाग गयी॥ ७-८॥

नोट—१ (क) ब्रह्मचर्य दो प्रकारका होता है। एक आधिदैविक दूसरा आध्यात्मिक। आधिदैविक ब्रह्मचर्यके पालनसे ही आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति होती है जो कि मनुष्य-शरीरका चरम लक्ष्य है। और उस आधिदैहिक ब्रह्मचर्यकी पूर्ण रक्षा अष्ट प्रकारके भोगोंके त्यागसे ही हो सकती है। ब्रह्मचर्यके बाधक आठ प्रकारके भोग ये हैं—**'स्रग्गन्धो वनिता वस्त्रं गीतताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगास्त्वष्टविध: स्मृत:॥'** दूसरा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य है ब्रह्ममें विचरना। अर्थात् सतत काल ब्रह्म (इष्ट) का चिन्तन करना,

'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' *'निज प्रभुमय देखहिं जगत',* जगन्मात्रमें ब्रह्मव्याप्तिकी भावना करते रहना, सम्पूर्ण चराचरमात्रको ब्रह्ममय देखना आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आधिदैहिक ब्रह्मचर्य, नाना प्रकारके संयम, नियम, व्रत, दान, धैर्य, धर्म और ज्ञानादि आध्यात्मिक ब्रह्मचर्यके साधन हैं। साधनसे साध्य श्रेष्ठ होता है। इसीसे साध्य 'ब्रह्मचर्य' को यहाँ प्रथम कहकर तब व्रत-संयमादि साधन कहे गये। साधनमें विपरीतता होनेसे साध्यमें भी विपरीतता हो जाती है। यही बात आगे 'विवेककटक'(साधन) के भागने (विपरीत होने) पर कही गयी है—*'देखहिं चराचर नारिमय……'* (बे० भू०)। पुनः मन-कर्म-वचन तीनोंसे मैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य-व्रत है। मैथुन (वा भोग) आठ प्रकारका होता है; यथा—**'कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्था तु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥'** (वै०, पं०) **'दर्शनं स्पर्शनं केलिः रहस्यं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतद्योगत्व-(एतन्मैथुन-) मष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥'** (पां० कोष्ठकवाला पाठ भावप्रकाशका है) पुनश्च *'सर्वत्यागसंकल्प रति तन्मय गुप्त बिचार। कीर्तन सुमिरन देखिबो मैथुन अष्ट प्रकार॥'* (वै०) पुनः (ख) 'व्रत'—किसी बातके करने वा न करनेका दृढ़ संकल्प। ब्रह्मचर्य व्रत=ब्रह्मचर्यका संकल्प। कामको जीतनेसे ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। इससे कामका मुख्य शत्रु ब्रह्मचर्य है; यथा—*'ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥'* (१। १२९) इसीसे प्रथम ब्रह्मचर्यको ही जीता, उसीका नाश प्रथम किया—यह जनानेके लिये ही इसीको प्रथम कहा। मुख्य विरोधीको काबूमें कर लेनेसे और सब तो फिर सहज ही दब जाते हैं, वशमें हो जाते हैं। (ग) *'संजम नाना'* इति। संयम=इन्द्रियनिग्रह=मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी क्रिया। संयम कहीं बारह और कहीं दस प्रकारके कहे गये हैं। दस ये हैं—**'१ अहिंसा २ सत्यमस्तेयम् ३-४ ब्रह्मचर्यम् ५ दयार्जवम् ६-७-८ क्षमाधृतिमिताहारः ९-१० शुचिश्च संयमा दश॥'** अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता एवं कुटिलताका अभाव, क्षमा, धैर्य, सूक्ष्म भोजन तथा पवित्रता 'नाना' विशेषण देकर ये सब जना दिये गये। योगमें ध्यान, धारणा और समाधिके साधनको संयम कहा है। (घ) धीरज=धैर्य=कामादिके वेगके वश न होना, यथा—**'वेगेनावध्यमानत्वममिते कामक्रोधयोः। गदितं धीमतां धैर्यं बले भूयसि तेजसि॥'** (वै०) (ङ)—विज्ञान, योग, वैराग्यके अर्थ पूर्व दोहा ३७ (७, ९-१०) में तथा अन्यत्र भी लिखे गये हैं। 'धर्म' के चार चरण सत्य, तप, दान और विद्या हैं; यथा— **'विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।'** (भा० ३। १२। ४१) कोई-कोई विद्याके बदलेमें 'शौच' को एक पाद कहते हैं। —विशेष दोहा ४४ *'धर्म बिधि……'* में देखिये। 'सदाचार'=अच्छे आचरण; वेदविहित कर्म-धर्म; सात्त्विक शिष्ट व्यवहार। *'जप'* इति।—यह कई प्रकारका होता है। मनके अभ्यन्तर मन्त्र और मन्त्रके अभ्यन्तर मनको स्थित करना भी 'जप' है; यथा— **'मनो मध्यस्थितो मन्त्रः मन्त्रमध्यस्थितं मनः। मनो मन्त्रं च संयोगो जप इत्यभिधीयते॥'** (वै०) जपके नाम और भेद हारीतस्मृतिमें आये हैं; यथा— **'जपो नामविधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तद्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधम्, उच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणं मानसं कोटिगुणम्॥'** (अ० ३। ४१—४४) विशेष ३७ (१०) में देखिये।

नोट—२ *'सभय बिबेक कटकु सबु भागा'* इति। (क) ब्रह्मचर्य, संयम आदिको अलग-अलग कहकर *'सभय……'* कहनेका भाव कि यह सब विवेककी सेना है। इनके अतिरिक्त और भी हैं, *'सबु'* कहनेसे उनका भी ग्रहण हो गया। (ख) यहाँ विवेककी सेनाका भागना कहा, आगे विवेक (अर्थात् राजा) का भी भागना कहते हैं। (ग) ब्रह्मचर्य आदि सबके एक साथ भाग जानेका वर्णन 'सहोक्ति अलंकार' है। इन सबोंको विवेकसैन्यके साथ रूपण देना 'रूपक' है। (वीरकवि)

छंद—भागेउ बिबेकु सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सदग्रंथ पर्बत कंदरन्हि महु जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहु कोपि कर धनु सरु धरा॥

शब्दार्थ—'**संजुग**=रण, संग्राम। यथा—'***जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं॥***' (६। ८९) **संजुग महि**=संग्रामभूमि; लड़ाईका मैदान। **मुरे**=मुड़े; फिरे; पीठ दी। **कंदरा**=पर्वतकी गुफा। **दुरे**=छिप गये। **रतिनाथ**=कामदेव। **खरभरु**=खलबली। **करतार** (कर्तार)=विधाता।

अर्थ—विवेक सहायकोंसमेत भागा। उसके उत्तम-उत्तम योद्धा संग्राम-भूमिमें पीठ दिखा गये (अर्थात् रणमें सम्मुख न ठहर सके)। उस समय वे सब सद्ग्रन्थरूपी पर्वतकी कन्दराओंमें जा छिपे। संसारभरमें खलबली पड़ (मच) गयी। (जहाँ-तहाँ लोग कह रहे हैं) हे विधाता! क्या होनेवाला है? हमारी रक्षा कौन करेगा? दो मस्तक किसके हैं अर्थात् दो सिरोंवाला ऐसा कौन है कि जिसके लिये रतिके पति कामदेवने कोपकर धनुष-बाण (वा, धनुषपर बाण) धारण किया है।

नोट—१ '*भागेउ बिबेकु सहाय सहित*......' इति। इससे जनाया कि कामका कटक बहुत प्रबल और अपार था; इसीसे विवेकके सुभट रणभूमिमें उनके सम्मुख ठहर न सके; पीठ दिखा गये। विवेक राजा अपनी सेनासहित प्राण लेकर भगा; यथा—'***तै सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई॥***' (१। १८१) '***देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई॥***' (१। १७९) इधर विवेक राजा, उधर काम राजा। हृदय ही देश वा राजधानी है। देवता असुरोंके भयसे भागकर सुमेरुकी कन्दराओंमें जा छिपते थे; यथा—'***रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥***' (१। १८२) अर्थात् हारा हुआ राजा जाकर वहीं छिपता है, जहाँ शत्रुका भय न हो। वैसे ही यहाँ 'विवेक राजा' अपने मन्त्री, सेना आदिसहित मनुष्योंके हृदयोंसे निकल-निकलकर सद्ग्रन्थोंमें जाकर छिप रहे। अर्थात् किसीमें ब्रह्मचर्य, संयम, सदाचार आदि न रह गये और न विवेक ही रह गया। कामदेवका पूरा अधिकार इनके देश (हृदय) पर हो गया। सबके मन ज्ञानादिकी ओरसे हटकर कामकी ताबेदारीमें लग गये। यही विवेकादिका भागना है। '**सद्ग्रन्थ**' अर्थात् सदाचारके समीचीन ग्रन्थ पर्वत हैं; यथा—'***पावन पर्बत बेद पुराना।***' (७। १२०) उन ग्रन्थोंमें जो अध्याय, सर्ग, काण्ड, ऋचाएँ, मन्त्र और श्लोकोंकी पंक्तियाँ आदि हैं, वे ही कन्दराएँ हैं। अथवा, सद्ग्रन्थ ही पर्वतकन्दराएँ हैं। सद्ग्रन्थरूपी पर्वतकन्दराओंमें जा छिपनेका भाव कि ये सदाचार केवल पोथियोंमें लिखे भर रह गये, ऋषि-मुनि, स्त्री-पुरुष, देवता-मनुष्य इत्यादि किसीमें दिखायी नहीं देते। (ख) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि यहाँ विवेक राजा है, धर्म रथ है; धीरज ध्वजा है, ज्ञान खड्ग, सन्तोष चर्म, क्षमा बखतर (कवच), वैराग्य मन्त्री, विज्ञान मित्र, यम भट, नियम सेनापति, सदाचार सेना, वेदाध्ययन बाजा, सदन कर्म और ब्रह्मचर्य इत्यादि सेवक हैं।' (करु०, वै०)

नोट—२ प्रबोधचन्द्रोदयनाटकमें कामको मन्त्री और प्रधान सेनापति और महामोहको राजा कहा गया है। उसकी सेनाका भी वर्णन है। इसी प्रकार विवेकको राजा कहकर उसकी सेनाका भी वर्णन किया गया है। दोनों प्रतिद्वन्द्वियोंके समाजकी तालिका अयोध्याकाण्ड दोहा २३५ में दी जायगी क्योंकि वहाँ मोहको राजा कहा गया है और विवेकको भी। और दोनोंकी तालिकाका स्वयं गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

नोट—३ '*होनिहार का करतार*......' इति। (क) ☞ अद्भुत घटनाएँ देखकर मनुष्य इसी भाँति सोचने लगता है। वही खाका यहाँ खींचा है। लोगोंका व्यग्र होना 'खरभर' कहलाता है; यथा—'***सुनि आगवनु दसानन केरा। कपिदल खरभरु भएउ घनेरा॥***' (६। ९९) '***पुर सोभा खरभरु अधिकाई।***' (पं० रा० कु०) (ख) '***होनिहार का करतार***', '***को रखवार***' इत्यादि शङ्का वितर्क संचारी भाव है। बैजनाथजीके मतानुसार '***दुइ माथ केहि***......' में प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार है। जहाँ उत्कर्षका हेतु कल्पित किया जाय वहाँ 'प्रौढ़ोक्ति' होती है।

नोट—४ '*दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि*......' इति। भाव कि एक सिरवाले तो उसके कोपमात्रसे ही वशीभूत हो गये, कोई दो सिरवाला ही होगा तभी परास्त नहीं हो सका। उसीके लिये कामदेवको धनुषबाण लेना पड़ा है। एक सिरवालोंके सिर तो कट ही गये, वे तो वशमें हो चुके। जिसके दो सिर रहे होंगे,

उसीका एक सिर अभी बच रहा है, इसीसे उसीका अभिमान तोड़नेके लिये उसे धनुषपर बाण चढ़ाना पड़ा है। मिलान कीजिये—*'केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।'* (२। २६) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ लोक तो दो ही माथकी शङ्का कर रहा है, यह नहीं जानता कि जिनके लिये धनुषपर सर चढ़ाया है उनके पाँच मस्तक हैं।'

वि० त्रि०—*'धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुखमंदा॥'* धर्मरूपी कमलके लिये स्त्री हिम है और वही कामका परम बल है। इस समय जगत् स्त्रीमय दिखायी पड़ रहा है। हिमकी भारी वर्षा हुई। संसार हिममय हो गया। अतः धर्म सरसीरुहकी दुर्दशा कहते हैं—*'भागेउ बिबेक सहाय सहित।'* हिमशैलसुता-शिवविवाह-प्रकरण हिमऋतु हो गया।

बाबा हरिदासजी—यहाँ शङ्का होती है कि कामकी चढ़ाई तो शिवजीपर है और वे हैं पाँच माथवाले। उनके लिये तो *'दुइ माथ'* कह नहीं सकते क्योंकि तीनकी कमी आयेगी। तब इसका समन्वय कैसे होगा? समाधान—इसमें बात यह है कि त्रिभुवनमें अबतक एकमात्र कामदेवका सिर छत्रधारी रहा है। नीति है कि प्रीति और विरोध बराबरवालेसे करना चाहिये। अब सब कहते हैं कि किस दूसरे वीरका सिर छत्रधारी हो गया है, जिसपर कि रतिनाथने क्रोधित होकर धनुष-बाण हाथोंमें धारण किया है कि उस दूसरे छत्रको भङ्ग कर दूँ।

दोहा—जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम॥ ८४॥

शब्दार्थ—**सजीव**=जीव या प्राणयुक्त=जीवधारी; प्राणधारी; प्राणी। **मरजाद** (मर्यादा)=नियम; सीमा; सदाचार, धर्म, रीति, परिपाटी।

अर्थ—संसारमें जो अचर (स्थावर जड) और चर (चेतन) स्त्री और पुरुष ऐसे नामवाले जीवधारी प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर कामके वश हो गये॥ ८४॥

'जे सजीव जग अचर चर······'

'सजीव' का भाव यह कि कोई यह न समझे कि अचर सभी जीवरहित हैं। *'अचर'* में भी बहुतेरे ऐसे हैं कि जिनमें स्पर्श, गन्ध आदि विषयोंकी चेष्टा होती है। वे काम-क्रोधादिके वश भी होते हैं, बिना आँखोंके देखते भी हैं। उनमें पुरुषत्व और स्त्रीत्वके चिह्न भी होते हैं। जैसे कि वृक्षों, पौधों और लताओंमें। उनमें भी कोई पुरुष और कोई स्त्री संज्ञावाले हैं। जो लोग न अपने यहाँके ग्रन्थोंको देखते हैं और न उनमें विश्वास करते हैं वे ही जा-बेजा शङ्काएँ उठा बैठते हैं और अपने यहाँकी परम पवित्र वेदवाणीको भी निरादरकर ईसाई, मुसलमान आदि होकर दीन-दुनिया दोनोंसे हाथ धो बैठते हैं। ऐसे ही लोग कहते हैं कि 'वृक्षोंका निहारना कैसे कहा? वे तो जड़ हैं।' वे सब कुछ पाश्चात्त्य विज्ञानकी आँखोंसे देखते हैं कि जो विज्ञान अभी प्रारम्भिक अवस्थामें है और बदलती रहती है। उन लोगोंको भी यह बता देना जरूरी है कि वर्तमान विज्ञानसे बहुत-सी अपने प्राचीन ग्रन्थोंकी बातें सत्य सिद्ध हो चुकी हैं। जैसे कि विमान, अग्निबाण, शब्दभेदी बाण आदि। और जड़ पदार्थोंके विषयमें इतना ही कह देना बहुत है कि विज्ञानसे यह निश्चय हो चुका है कि वृक्षोंमें भी जीवत्व है। उनमें क्रोध करने, खाने-पीने, मारने, सहन करने आदिकी शक्तियाँ भी होती हैं। कोई बीस-बाईस वर्ष हुए कि माधुरी एवं और भी पत्रोंमें यह समाचार निकला था कि अफ्रिका या अमरीकामें एक वृक्ष ऐसा है कि जिसके पास यदि कोई मनुष्य या पक्षी आदि जाता है तो उसकी डालियाँ पत्तोंसहित उसपर एकदम झुक पड़ती हैं और वह उन पत्तोंमें एकदम बन्द हो जाता है। पत्ते उसे भक्षण कर लेते हैं। लाजवंती (छुई-मुई) छूनेसे मुर्झा जाती है। कुम्हड़ेकी बतियाँ तर्जनी देख मुर्झा जाती हैं, यथा—*'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥'* (१। २७३) पुनः यह भी सब सुनते ही हैं कि 'खरबूजा खरबूजेको देखकर

रंग पकड़ता है। वृक्षोंके बीजोंमें भी संयोगके लिङ्ग होते हैं। इनकी नसलें भी लिङ्गोंके संयोगसे पैदा की जाने लगी हैं। अस्तु। सजीवसे जनाया कि जिनमें जीवत्व नहीं है उन्हें छोड़ शेष सब कामवश हो गये, चाहे वह चर हों चाहे अचर।

'ते निज निज मरजाद तजि……' इति। अर्थात् कामवश हो गये। चेतनोंने चेतनता छोड़ दी; जड़ोंने जड़ता छोड़ दी। यहाँ स्त्रीपुरुषोंकी आसक्ति कही। (पं० रा० कु०) *'निज निज मरजाद तजि'*= जिसके लिये जो नियम बँधे हुए हैं उन नियमोंको त्यागकर यथा—*'भये कामबस समय बिसारी।'* जड़ोंकी जो मर्यादा बँधी है कि इससे आगे न बढ़ें वह मर्यादा उन्होंने तोड़ दी। इत्यादि। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जो न नारि हैं न पुरुष, केवल उनके नामके साथ स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्गके प्रत्यय लगे हुए हैं, वे कामवश नहीं होते, पर आज वे भी कामवश हुए, उनमें भी मानो जीवन आ गया, क्योंकि काम जीवनी शक्ति है।'

☞ यहाँ प्रथम अचरका कामवश होना कहा तब चरका। इसीसे 'अचर' शब्द प्रथम दिया तब चर। अब इसीको क्रमसे आगे विस्तार करते हैं। *'सबके हृदय……'* से *'अचर'* का कामवश होना कहा और *'देव दनुज……'* यहाँसे *'चर'* के कामवश होनेका विस्तृत उल्लेख है।

'जे' 'ते' वाचकपद देकर दो असम वाक्योंकी समता दिखानेसे 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है।

सब के हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा॥ १॥
नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं। संगम करहि तलाव तलाईं॥ २॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकै सचेतन करनी॥ ३॥

शब्दार्थ—**अभिलाषा**=बड़ी या प्रबल इच्छा। **अंबुधि**=जलका अधिष्ठान=समुद्र। **संगम**=मिलाप, संयोग। संगम करना=मिलना-जुलना, संयोग करना। **सचेतन** (सं०)=वह प्राणी जिसमें चेतना हो=चैतन्य। जिनमें जान है, जो चलते-फिरते हैं। **करनी**=व्यवस्था, कर्म, दशा।

अर्थ—सबके हृदयमें कामकी प्रबल इच्छा हुई। लताओं-(बेलों-) को देखकर वृक्षोंकी शाखाएँ (डालियाँ) झुकने लगीं॥ १॥ नदियाँ उमड़-उमड़कर समुद्रकी ओर दौड़ीं। ताल-तलैयोंसे संगम करने लगे॥ २॥ जहाँ जड़-पदार्थोंकी ऐसी दशा वर्णन की गयी है तहाँ (भला) चैतन्य जीवोंकी करनी कौन कह सकता है? (कोई भी तो नहीं कह सकता)॥ ३॥

नोट—१ (क) *'सब के हृदय मदन अभिलाषा'* इति। ☞ऊपर दोहेमें *'जे सजीव जग अचर चर'* कह आये, अब यहाँ उनमेंसे कुछको गिना रहे हैं। यहाँसे दो अर्धालियोंमें अचेतन (जड़) जीवोंकी दशा दिखायी है। (ख) *'लता निहारि नवहि तरु साखा'* में पुरुषसंज्ञक जड़ोंमें विशेष कामोद्दीपन दिखाया। *'तरु'* पुंल्लिङ्ग है, वे लता स्त्रियोंको देखकर उनपर आसक्त हो रहे हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि *'सब के हृदय मदन अभिलाषा'* यह *'जे सजीव जग'* के विषयमें और *'लता निहारि……तलाईं'* यह अचर *'नारि पुरुष अस नाम'* के सम्बन्धमें कहा गया। लतामें कुच-केशादि कोई लक्षण नारीके नहीं हैं और न वृक्षमें कोई लक्षण पुरुषके हैं, केवल लता शब्द स्त्रीलिङ्ग है और तरु शब्द पुँल्लिङ्ग है। इसी भाँति नदी, तलाई आदिमें स्त्रीलिङ्गका और समुद्र, ताल आदिमें पुँल्लिङ्गका व्यवहार है। सो इस व्यवहारके नाते ये मर्यादा त्यागकर एक-दूसरेसे मिलना चाहते हैं। *'नवहिं'* से जनाया कि लताएँ वृक्षोंके तले अथवा उनके बहुत निकट और उनसे नीची हैं; अतः वृक्ष उनपर संयोगके लिये झुकते हैं। और, *'नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई'* में स्त्रीवर्गमें विशेष कामासक्ति दिखायी। इस तरह सूचित किया कि स्त्री-पुरुष दोनोंपर कामका प्रभाव बराबर पड़ा। तथा *'संगम करहि तलाव तलाईं'* में दोनोंमें कामकी प्रबलता एक-सी साथ-साथ दिखायी। [(ख) *'लता निहारि'* इति। पं०-रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वृक्ष भी देखते हैं' यह शास्त्रसिद्ध बात है; यथा—'**तस्मात्पश्यन्ति पादपाः।**' अथवा, काम ही उनमें प्रविष्ट होकर देखता है जैसे प्रेत मनुष्योंमें प्रवेश करके अदृष्ट बात कहते हैं। नदी तो समुद्रको जाती ही है, पर 'उमग' कर धाना

यही कामासक्तिका चिह्न है। नदी, तालाब और तलैयोंका उमड़ना कहा, क्योंकि बिना उमड़े दोनोंका संगम कैसे हो सकता है?] (ग) ऊपर कहा है कि *'निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम।'* उसीको यहाँ दिखाते हैं कि नियम तो यह है कि लता-शाखाकी ओर बढ़ती है, यथा—*'बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा।'* (२। ५। ८) पर यहाँ मर्यादा त्यागकर तरु-शाखा लताकी ओर झुकने लगा। इसी तरह बिना वर्षाके ही नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ीं। (वि० त्रि०) (घ) *'जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी।……'* इति। अर्थात् इसीसे अनुमान कर लीजिये। उनकी विशेष निर्लज्जता वर्णन करनेमें एक तो लज्जा लगती है, दूसरी वह अकथनीय है। यह चर अर्थात् चेतनायुक्त प्राणियोंकी दशा कही कि वे तो अत्यन्त कामासक्त हो रहे हैं। रक्तमांसादियुक्त स्थूल शरीरवाले जैसे कि मनुष्य, पशु-पक्षी आदि 'चर' समझे जायँ।

नोट—२ यहाँ *'नदीं', 'धाईं'* और *'तलाईं'* बहुवचनसंज्ञक शब्द दिये हैं और 'करहि' एकवचन क्रिया देकर अत्यन्तासक्ति दरसा रहे हैं। पाठक मनमें समझ लें। *'करहिं'* पाठ तो साधारणतया ठीक ही है। पर *'करहि'* हो तो यह भाव होगा।

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीके शृङ्गाररसमें मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं है जैसा कि उनकी फुलवारी-लीलाकी व्याख्याओंसे प्रकट है। यहाँ कामरसका ही वर्णन है, इसलिये कवि मजबूर है। पर फिर भी वर्णन संकेत और आड़से है। उर्दूकवि 'नसीम' में यह कला अच्छी है, पर वहाँ शृङ्गाररस मर्यादासे बाहर है।

पसु पक्षी नभ जल थल चारी। भए कामबस समय बिसारी॥ ४॥
मदन अंध ब्याकुल सब लोका। निसि दिन नहि अवलोकहि कोका॥ ५॥

अर्थ—आकाश, जल और पृथ्वीपर विचरने (चलने) वाले पशु-पक्षी (अपने-अपने संयोगका) समय भुलाकर कामके वश हो गये॥ ४॥ सब लोग (एवं तीनों लोक) कामान्ध होकर व्याकुल हो गये। चक्रवाक (चकवा-चकवी) रात-दिन (कुछ) नहीं देखते (अर्थात् रात-दिनका विचार भूल गये)॥ ५॥

नोट—१ (क) *'पसु पक्षी नभ जल थल चारी। भए……'* इति। जल, थल और आकाश तीनहीमें सारी जड़-चेतन नामक सृष्टि है, यथा—*'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना।'* (१। ३) अतः यहाँ तीनोंको कहकर संसारभरके प्राणियोंको जना दिया। आकाशगामी पशु नन्दीश्वर, ऐरावत इत्यादि; जलके पशु मकर, घड़ियाल, कछुए इत्यादि और थलके पशु गाय, श्वान, गर्दभ, भैंसा, बैल, हाथी, सिंह इत्यादि। जलके पक्षी कुक्कुट, बगला, हंस, बत्तख इत्यादि। थलके पक्षी सारस, मोर, चकोर इत्यादि। (ख) *'समय बिसारी'* इति। भाव कि पशु-पक्षियोंमें संयोगके समय बँधे हुए हैं; जैसे कि हाथी ग्राममें संयोग नहीं करता, कुत्ते-कुत्तियोंका संयोग कार्तिकमें, गदहे-गदहीका संयोग वैशाखमें और चकवा-चकवीका दिनमें होता है, रातमें नहीं। इत्यादि इस समय ये सब अपने संयोगका समय प्राप्त हुए बिना ही भोग करने लगे। (ग) *'मदन अंध ब्याकुल सब लोका'* इति। *'मदन'* पद देकर जनाया कि बड़े-बड़े योगी, ऋषि, ब्रह्मचारियों इत्यादिका मद जाता रहा, कोई अभिमानी इन्द्रियजित् वा कामजित् न बचा। 'लोक' के यहाँ दोनों अर्थ हैं—लोग और लोक। *'सब लोका'* अर्थात् त्रैलोक्यमात्र। आगे तीनों लोकोंके प्राणी गिनाये गये हैं, यथा—*'देव दनुज नर किंनर ब्याला……'* *'मदन अंध'* कहकर जनाया कि बुराई-भलाई, लज्जा आदिका कुछ ज्ञान किसीको न रह गया। अन्धेको सूझता नहीं, वैसे ही कामान्ध होनेसे इन्हें कहीं कोई और देख नहीं पड़ता जिसकी लज्जा करें। अतः 'अन्धा' कहा। अन्धेको दिन-रात बराबर, वैसे ही इनको। अन्धेमें और भी भाव भरे हैं, समझनेवाले स्वयं समझ लें। *'ब्याकुल'* से जनाया कि कामोद्दीपन अत्यन्त प्रबल होनेसे व्याकुल हैं कि कहाँ यह आग बुझावें। कामाग्नि शीघ्र बुझानेके लिये व्याकुल हैं। *'निसि दिन नहिं अवलोकहि कोका'* इति। *'कोका'* शब्दका प्रयोग यहाँ मार्केका है। *'कोका'*

नाम उस पण्डितका भी है जिसने कोकशास्त्र रचा था। सब-के-सब कोकापण्डित ही हो गये, कोकशास्त्रमें मानो खूब निपुण हैं। ऐसे कामान्ध हो रहे हैं कि दिन-रात, समय-कुसमय कुछ नहीं सूझता।

'निसि दिन नहि अवलोकहि कोका'

'अगले छन्दमें कहा है कि *'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं'* अर्थात् कामने यह खेल दो दण्डभर किया अर्थात् दो दण्डभर ही यह कामकृत कौतुक रहा और यहाँ कहते हैं कि चकवा-चकवी रात-दिन कुछ नहीं देखते, जिससे यह कौतुक कम-से-कम एक दिन एक रात तो अवश्य ही होना समझ पड़ता है। पुनः, आगे ८६ (१) में *'उभय घरीं अस कौतुक भयऊ'* ऐसा लिखते हैं। इस तरह यहाँ 'तीन विरोधी बातें' आ पड़ी हैं, यद्यपि ये तीनों प्रसङ्गानुसार एक ही होनी चाहिये'—यह शङ्का उठाकर इसका समाधान महानुभावोंने अनेक प्रकारसे किया है—

(१) विजयदोहावलीमें लिखा है कि *'उभय घरीं सुरलोकमें ब्रह्मलोक दुइ दंड। रह्यो भुवनमें दिवस निसि ब्यापेउ मदन प्रचंड॥'* अर्थात् कामके प्रसङ्गमें तीनों लोकोंकी दशा कही गयी है; इसीलिये तीन प्रकारसे समय भी लिखा गया। ब्रह्मलोकमें दो दण्डतक कौतुक रहा, सुरलोकमें दो घड़ी कौतुक रहा और भूलोकमें एक रात एक दिन रहा।

(२) करुणासिंधुजी, पं० रामकुमारजी आदि लिखते हैं कि 'कामका प्रभाव ब्रह्माण्डभरमें व्याप्त है। ब्रह्माण्डमें एक ही समय एक भागमें रात्रि और दूसरे भागमें दिन रहता है, यह सभी जानते हैं। (स्वतः पृथ्वीपर ही एशिया और यूरोपमें ही देख लीजिये कि जब भारतवर्षमें सबेरा होता है उसके कई घण्टे बाद विलायतमें सबेरा होता है। यहाँ दिन है तब अमरीकामें रात्रि होती है। इत्यादि।) इस कारण रात और दिन दोनों शब्द दिये गये। तात्पर्य कि चक्रवाक सर्वत्र संयोग करने लगे। रात-दिन दोनोंहीमें? जहाँ रात्रि है वहाँवाले रात्रिहीमें और जहाँ दिन है वहाँवाले दिनहीमें कर रहे हैं।' 'यदि केवल रातका भोग कहते तो दिनका भोग न पाया जाता और यदि केवल दिनका भोग कहते तो रात्रिका न पाया जाता। अतएव दोनों कहे।' (पं० रा० कु०) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जहाँ रात्रि थी वहाँके चकवा-चकवीने रात्रि नहीं देखी और जहाँ दिन था वहाँके चकवा-चकवी दिन क्यों देखने लगे, दिनका निषेध तो केवल मनुष्यके लिये है।

(३) यदि एक ही ठौरको लें तो सब खेल रातमें ही होना निश्चित होगा, क्योंकि चक्रवाक दिनहीमें सम्भोग करते हैं, सो मदान्ध होनेसे रात्रिमें ही सम्भोग करने लगे। कुछ विचार न रह गया कि अभी दिन नहीं है, रात ही है। पुनः,

(४) एक दण्ड दिन रहेसे एक दण्ड राततक यह कौतुक हुआ। अतः रात और दिन दोनों कहे। (वं० पा०)

(५) किसी-किसीने *'निसि दिन'* का अर्थ *'समय कुसमय'* किया है और किसीने यह अर्थ किया है कि 'रात-दिन समय-कुसमयका विचार नहीं रह गया, क्योंकि सब 'कोकापंडित' ही हो गये।' और कोई यह अर्थ कहते हैं कि 'कोई रात-दिन नहीं देखता अर्थात् किसीको यह भी नहीं सूझता कि रात है या दिन है, कौन है, क्या है।'

(६) वीरकविजी अर्थ करते हैं कि 'कोई समय-कुसमय नहीं देखता कि क्या है।' वे लिखते हैं कि—यहाँ *'कोका'* शब्दका चकवा पक्षी अर्थ किया जाता है कि चकवा-चकवी दिन-रात नहीं देखते। कामदेवने यह सब खेल दो दण्ड (४८ मिनट) में किया। इतने अल्प समयमें दिन-रातका होना असम्भव है। वन्दन पाठकने अपनी शङ्कावलीमें लिखा है कि एक दण्ड रात थी और एक दण्ड दिन। पर यह वाग्विलासके सिवा कोई प्रामाणिक बात नहीं है!' आप *'कोका'* का अर्थ 'कोई' और 'क्या' करते हैं पर गोस्वामीजीके ग्रन्थों एवं शब्दसागरमें ऐसा अर्थ दासको कहीं नहीं मिला। *'निसि दिन'* के साथ *'कोका'* का कोई दूसरा अर्थ सङ्गत भी नहीं खाता और प्रसिद्ध भी 'चक्रवाक' ही अर्थ है। इसी अर्थमें इसका प्रयोग इसी ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र हुआ है। यथा—*'कोक सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥'*······

उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुखदाता॥' (१। २३८) *'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥'* (१। २३९)। *'कोक तिलोक प्रीति अति करिही॥'* (२। २०९)। *'सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥'* (७। ३१) इत्यादि। ☞वस्तुतः चक्रवाकका ऐसा कट्टर नियमवाला दूसरा नहीं कि जो एक पिंजड़ेमें भी बन्द कर दिये जानेपर भी सम्भोगकी कौन कहे, भेंट भी चकवीसे नहीं करता, दोनों एक-दूसरेके सामने मुख भी नहीं करते। यथा—*'संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार। तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखें भा भिनुसार॥'* (२। २१५) जब उनकी प्रकृति भी बदल गयी तब भला जो केवल शास्त्रमर्यादासे ही चलनेवाले हैं उनकी क्या कही जाय?—यह आशय जनानेके लिये 'कोक' का उदाहरण दिया गया है।

(७) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'चकवा-चकवीका नियम छोड़ना निश्चित करता है कि कामदेव शिवजीके पास रात्रिमें गया था जिस कारण चकवा-चकवीने अपना नियम छोड़ दिया। यदि कहिये कि तब चकवा-चकवीके लिये *'दिन'* शब्द क्यों लाया गया—*'निसि दिन'''''।'* तो उसका उत्तर यह है कि 'दिन-रात' द्वन्द्व शब्द हैं (जो दो शब्द एक साथ बोलनेका मुहावरा है), जैसे हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष-शोक इत्यादि द्वन्द्व शब्द हैं और द्वन्द्वके साथ कहे भी जाते हैं किन्तु प्रतिकूल प्रसङ्गमें कहे जाते हैं। जैसे यदि किसी पण्डितसे पाप-कर्म हो जाय तो यही कहा जायगा कि पण्डितने पाप-पुण्यका विचार नहीं किया, यदि पाप-पुण्यका विचार किया होता तो ऐसा न करता। अब देखा जायगा कि 'पाप' के साथ 'पुण्य' शब्द लगाना पड़ा है पर अर्थ करनेमें 'पाप' हीका अर्थ किया जायगा। वैसे ही चकवा-चकवीके लिये *'निसि दिन'* शब्द है, पर अर्थ करनेमें *'निसि'* ही अर्थ किया जायगा, क्योंकि उनके लिये रात्रि ही प्रतिकूल है। पुनः, *'निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका'* से यह ध्वनि होती है कि रात-दिन देखा करते थे परन्तु उस दिन नहीं देखा। 'रात-दिन' क्यों देखा करते? रात देखते हैं आपसमें अलग होनेके लिये और दिन देखते हैं मिलनेके लिये। अब देखा जाय कि यदि यह प्रसङ्ग सबके लिये प्रतिकूल है तो चकवा-चकवीके लिये प्रतिकूल क्या है? रात्रि। क्योंकि दिन तो उसके लिये अनुकूल है। (अब जो दो बातें और जो विरोधी कही जाती हैं, उनको लीजिये)—*'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं'* यह पद कामदेवके तमासा रचनेके समयको सूचित करता है कि कामदेवने ब्रह्माण्डके भीतर अपना कौतुक घड़ीभरमें ही रचकर तैयार कर दिया था। और *'उभय घरी अस कौतुक भयऊ'* यह पद कामदेवके तमासेका दो घड़ी स्थित रहना सूचित करता है। यह तमाशा कबतक रहा? जबतक कि कामदेव शिवजीके पास पहुँचा है और वह दो घड़ीमें उनतक पहुँचा है।—*'जब लगि काम संभु पहिं गयऊ।'* पुनः, जब ब्रह्माण्डके भीतर दो दण्डभर खेल करना लिखा गया है तब दो घड़ीका रहना भी निश्चय होता है। क्योंकि जहाँ तमाशा किया जाता है, वहीं रहना भी होता है। सो जब ब्रह्माण्डभरमें कौतुकका रहना सिद्ध हुआ तब सब लोकोंमें रहना भी निश्चय हो गया। क्योंकि ब्रह्माण्डके भीतर ही सब लोक स्थित हैं। अतः 'विजयदोहावली' का लेख दोषयुक्त है।'

(८) शीलावृत्तमें लिखा है कि—'कौतुक दो ही दण्डभर हुआ पर उसका नसा ज्यों-का-त्यों दो दण्ड और बना रहा। इस तरह दो घड़ीतक कौतुक रहा। एक घड़ी=दो दण्ड। पुनः 'सब लोगोंका कामान्ध होना, लिखा है। दो घड़ीमें रात और दिन इस तरह बनता है कि जहाँ रवि है वहाँ दिन है। वहाँके नर-नारियोंने मर्यादा छोड़ दी, दिनमें ही भोग करने लगे और जहाँ रात है वहाँके चकवा-चकवीने मर्यादा छोड़ दी कि रातमें ही संयोग करने लगे।'

(९) हिन्दी बोलचालमें दण्ड और घड़ीमें प्रायः भेद नहीं माना जाता। वीरकविजीने दण्डका अर्थ 'घड़ी' किया है और पं० रामकुमारजीने भी यही अर्थ किया है। एक दण्ड २४ मिनटका होता है।

देव दनुज नर किंनर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥६॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥७॥

सिद्ध* बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भये बियोगी॥ ८॥

शब्दार्थ—**दनुज**=दैत्य, असुर। देव, किंनर, ब्याल (=सर्प, नाग)—४४ (४) '*देव दनुज*……' '*किंनर*……' देखिये। प्रेत, पिशाच, भूत, बैताल—नोटमें दिये जायँगे। **सिद्ध**—६१ (१) देखिये। **तेपि**=तेऽपि=ते अपि=वे भी।

अर्थ—देवता, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, नाग, प्रेत, पिशाच, भूत और बेतालोंको सदा कामके चेरे (चेले, दास, गुलाम, किंकर) जानकर मैंने इनकी दशा बखानकर नहीं कही॥ ६-७॥ (जो) सिद्ध, महान् वैराग्यवान्, महामुनि और महान् योगी (हैं) वे भी कामवश योगरहित एवं विरही हो गये॥ ८॥

नोट—१ '*देव दनुज*……' इति। (क)—देवसे स्वर्गवासी, दनुजसे पातालवासी और नरसे मर्त्यलोकवासी सभी जनाये। भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल आदि सभी रणमें भाग लेनेवाले नीच प्रकारके शिवगण हैं। भूत, पिशाच और बेताल यह सब प्रेतोंके भेद हैं। उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। ये सब भी देवकोटिमें माने जाते हैं। भूतोंका मुँह नीचेकी ओर लटका हुआ या ऊपरकी ओर उठा हुआ माना जाता है। ये आत्माएँ अनेक प्रकारके उपद्रव करती और लोगोंको बहुत कष्ट पहुँचाती हैं। भूत-प्रेतोंके सम्बन्धमें साधारणतः यह माना जाता है कि मृत-प्राणियोंकी जिनकी मुक्ति नहीं होती उनकी आत्माएँ चारों ओर घूमा करती हैं और उपद्रव मचाया करती हैं। पिशाच, यक्षों और राक्षसोंसे हीन कोटिके बहुत अशुचि और गन्दे तथा रक्त आदि पीनेवाले कहे जाते हैं। बेताल भूत-पिशाचोंकी अपेक्षा अधिक जबरदस्त और राक्षसोंकी जोड़के होते हैं। बेतालोंकी एक जाति अगियाबेताल भी होती है जिनके मुखसे अग्निकी ज्वाला निकलती है। आनन्दरामायणमें प्रेत-पिशाचका लक्षण इस प्रकार वर्णित है—'**वक्रदंष्ट्रो लम्बजिह्वो निमग्नो रक्तलोचनः। पांशुः पीनोदरः क्षामः लम्बोष्ठोह्यधरस्वतः॥**'—भूत-पिशाच आदि सभी बड़े भयंकर होते हैं। इनकी करालताका वर्णन आगे शिव-बारातमें देखनेमें आता है। (ख) '*इन्ह कै दसा न कहेउँ*……' इति। भाव कि औरोंके, पशु-पक्षीतकके तो समयका नियम भी है, पर इनका तो कोई नियम है ही नहीं, ये तो सदा कामासक्त बने रहते हैं, सदा कामके चेले ही हैं अर्थात् सदा कामकी वृद्धि ही चाहते हैं। आशय यह कि ये सदा सुन्दर स्त्री ही ढूँढ़ा करते हैं। इसीसे इनका वर्णन विस्तारसे नहीं किया। ☞ग्रन्थकार महात्मा हैं, इसीसे उन्होंने कामासक्त लोगोंकी करनी कुछ न लिखी। यथा—'*जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥*' तथा यहाँ '*इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी।*' (पं० रा० कु०) (ग) यहाँ देव-दानवादिकी कामान्धताका अर्थ दूसरे योगसे स्थापन करना कि ये तो सदा कामके अनन्य सेवक ही हैं 'अर्थापत्ति प्रमाण अलङ्कार' है। (वीरकवि)

नोट—२ '*सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी*……।' इति। (क) भाव कि सिद्ध आदि योगीश्वर होते हैं, वे इन्द्रियविजयी होते हैं, कामी नहीं होते; सो वे भी कामातुर हो विरही हो गये। इस अयोग्यमें कामदेवकी योग्यता दिखाकर उसके प्रभावकी अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। (वीरकवि) (ख) ☞यहाँ 'वियोगी' के दो भावार्थ कहे जाते हैं। एक तो '**बियोगी**'=बि (=विगत)+योगी। '*भए बियोगी*'=योग छोड़ बैठे; कामकी प्रबलतामें अष्टाङ्गयोगसे ध्यान छूट गया और वे कामके वश हो गये। दूसरे, सिद्ध, विरक्त, महामुनि और योगी प्रायः स्त्रीरहित होते हैं। इनके स्त्रियाँ तो होती नहीं तब उनको स्त्रियोंका संयोग कहाँ मिले और काम उन्हें सता रहा है; इस कारण वे स्त्री-विरहमें कामियोंकी तरह वियोगी अर्थात् विरही-से देख पड़ते हैं। वे स्त्रीके लिये इतने व्याकुल हैं जैसे कोई महाविरही अतिकामी स्त्रीके वियोगमें व्याकुल हो। पुनः भाव कि उनका ज्ञान-ध्यान सब जाता रहा। वे सब अपने-अपने धर्मोंसे वियोगी हो गये। अर्थात् जो महान् सिद्ध थे उनका सिद्धियोंसे वियोग हो गया, महामुनियोंका मननसे वियोग हो गया, महाविरक्तका वैराग्यसे और महायोगीका योगसे वियोग हो गया। ये सब स्त्री ढूँढ़ने लगे।

टिप्पणी—१ यहाँतक 'आलिङ्गन, चुम्बन, भाषण और मैथुन' कहे और कामवश होनेमें चार कोटियाँ

* सदा—१७०४

कहीं—१ जड़, २ चेतन, ३ चैतन्यतर और ४ चैतन्यतम। यथा—*'जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥'*, *'जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।'*...... *'देव दनुज नर किंनर ब्याला*......', *'सिद्ध बिरक्त महा मुनि जोगी।'* पशु-पक्षी आदि साधारण चेतन हैं। देव-दनुजादि चैतन्यतर जीव हैं। *'सिद्ध बिरक्त'* आदि चैतन्यतम हैं।

छंद—भए कामबस जोगीस तापस पावरन्हि की को कहे।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं॥

अर्थ—योगीश्वर और तपस्वी (ही जब) कामवश हो गये (तब) बिचारे नीच प्राणियोंकी कौन कहे। जो लोग चराचर-(मात्र-) को ब्रह्ममय देखते थे, वे उसे स्त्रीमय देखने लगे। स्त्री सारे जगत्‌को पुरुषमय और पुरुष सबको स्त्रीमय देखते हैं। ब्रह्माण्डभरके भीतर दो दण्डतक कामदेवने यह कौतुक रचा (वा कामदेवका रचा हुआ यह कौतुक हुआ)।

नोट—१ (क) *'भए कामबस जोगीस*......' इति। कामका विशेष कोप योगीश्वरों और तपस्वियोंपर है, इसीसे कविने उनका नाम दो बार लिखा। यथा *'भए अकंटक साधक जोगी। जोगी अकंटक भए*...... ॥' (८७) (पं० रा० कु०)। पुनः प्रथम चौपाइयोंमें योगी विरक्त आदिका कामवश होना कहा था और यहाँ छन्दमें उनके सम्बन्धमें जो पूर्व कहा है, उसे लेकर कहते हैं कि ये तो वे लोग हैं कि जो कामसे सदा दूर रहते थे, सदा रागरहित रहते थे, जो कामजित् ब्रह्मचर्यरत हैं, जिनकी सारी सिद्धि ही ब्रह्मचर्यपर खड़ी है, उनकी यह दशा हो गयी, तब तुच्छ मनुष्योंकी क्या कही जाय? न कहनेका कारण बतानेमें उनकी दशा फिर कही। तात्पर्य यह है कि वे पामर प्राणी तो यों ही सदा कामवश रहा करते थे, इस समय तो जो उनकी दशा हुई वह अकथनीय है। वा उनका कामवश होना तो स्वाभाविक इसीसे सिद्ध है, कहनेकी आवश्यकता नहीं।

नोट—२ *'देखहिं चराचर नारिमय*......' इति। ब्रह्ममय देखते थे; यथा **'सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।......आदिमध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी॥** *जथा पट-तंतु घट मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारु-करि, कनक-कटकांगदादी।'* (विनय० ५४); **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। अर्थात् जो लोग सदा संसारको इस तरह देखते थे, 'सारा जगत् ब्रह्ममय है' यह ही जिनकी दृष्टिमें रहता था, सो भी जगत्‌को स्त्रीमय देखने लगे। पूर्व सब चराचरमें एक ब्रह्मको ही देखते थे अब सबमें उनको स्त्रीका ही दर्शन हो रहा है। (ब्रह्ममय देखनेवाले ज्ञानियोंको समदर्शनका अभ्यास है। उन्हें अब नारीका ध्यान आया तो ब्रह्मकी भाँति वे चराचरमें नारी ही देखने लगे। वि० त्रि०)

नोट—३ *'अबला बिलोकहिं पुरुषमय*......' इति। (क) अर्थात् मैं ही एक स्त्री हूँ और जगन्मात्र पुरुष है, बिना सबसे सम्भोग किये सन्तोष न होगा—ऐसी कामातुर हो रही हैं। वही हाल पुरुषोंका है; वे केवल अपनेको पुरुष देखते हैं और चराचरमात्रको स्त्रीरूप देख रहे हैं, समझते हैं कि बिना सबसे संयोग किये तृप्ति न होगी। (ख) *'अबला'* का भाव कि है तो कहाती *'अबला'* (बलहीन) पर यही कामका परम बल है; यथा *'एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥'* (३। ३८) और अन्तमें इसने परम बल किया ही। (ग) रसिकविहारीके *'नैननमें प्यारी सैननमें प्यारी इन बैननमें प्यारी सुख दैननमें प्यारी है। काननमें प्यारी मन प्राननमें प्यारी गान ताननमें प्यारी रूपवाननमें प्यारी है॥ जागतमें प्यारी नींद लागतमें प्यारी बसी रसिकबिहारी रोम रोममें प्यारी है।'* इस कवित्तको 'नारिमय' एवं **'अबलामयं'** का भावार्थ समझना चाहिये। (घ) पुनः, पुरुष अबलामय देखते हैं, इसमें यह भी ध्वनि है कि मदान्ध

होनेके कारण वे जिस-तिस स्त्रीको अपनी प्यास वा आग बुझानेके लिये पकड़ लेते हैं, उसे 'अबला' ही जानते हैं।

नोट—४ *'दुइ दंड भरि……'* इति। (क) प्रारम्भमें कहा था *'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।'* विस्तार कैसे किया यह यहाँतक लिखा, ब्रह्माण्डभरमें प्रभाव विस्तृत किया। (ख) ***'दुइ दंड'*** और ***'अयं'*** का अर्थ आगे करते हैं कि दो घड़ी है, यथा—*'उभय घरी अस कौतुक भएऊ।'* दो ही दण्डमें ब्रह्माण्डको जीत लिया और दो ही दण्डमें शिवजीके पास पहुँच गया। (पं० रा० कु०) ***'दुइ दंड'*** और *'उभय घरी'* पर पूर्व ८५ (५) *'निसि दिन नहिं अवलोकहि कोका'* में लिखा गया है, उसे देखिये। (ग) **'कृत कौतुक अयं'** इति। ब्राह्मण्डका जीतना कामके लिये एक खेल या तमाशा ही है, इसीसे ***'कौतुक'*** कहा।

सोरठा—धरी न काहूँ धीर सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ॥ ८५॥

अर्थ—किसीने भी धीरज न धारण किया। कामदेवने सबके मन हर लिये। श्रीरघुवीरने जिनकी रक्षा की, वे ही उस समय बच रहे॥ ८५॥

नोट—१ *'धरी न काहूँ धीर……'* इति। काम-ऐसे प्रबल वीरसे रक्षा की। अत: *'रघुबीर'* शब्दका प्रयोग हुआ। वीर ही रक्षा कर सकता है। तात्पर्य कि रघुवीरकी वीरताके आगे उसकी वीरता न चली। जैसे रक्षाके सम्बन्धसे *'रघुबीर'* शब्द दिया, वैसे ही मन हरण करनेके सम्बन्धसे ***'मनसिज'*** नाम बहुत ही उपयुक्त है।

* 'जे राखे रघुबीर ते उबरे……' *

१ वेदमें तीन काण्ड हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। यहाँतक यह दिखाया कि कामदेवने कर्म और ज्ञानको नष्ट कर डाला। बचे तो केवल उपासक ही। ('ब्रह्मचर्य, व्रत, संयम नाना, धीरज, धर्म, सदाचार, जप, योग, वैराग्य'), *'सभय बिबेक कटक सब भागा' 'सो सुभट संजुग महि मुरे'* से कर्मकाण्डकी और *'भागेउ बिबेक सहाय सहित'* से ज्ञानकी हार सूचित की। जप तप संयम आदि कर्म हैं। विवेक ज्ञान है। रही उपासना सो उसकी रक्षा श्रीरघुवीरजीने की। (पाँ०) ☞इस वर्णनसे उपासनाकी सर्वोत्कृष्टता दर्शित की गयी है।

नोट—२ *'जे राखे रघुबीर'* अर्थात् जिनकी रक्षा रघुनाथजीने की उन्हें कौन नष्ट कर सकता है? उनका बाल बाँका नहीं हो सकता। अत: रघुवीराश्रित ही बचे। *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* (१। १२६)—यह नारदमोहप्रसङ्गमें भी इसी भावमें आया है और गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है; यथा—*'तिन्ह की न काम सकै चाँपि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥'* (गी० २। ४९)

नोट—३ श्रीनारदजी जब पम्पासरपर श्रीरघुनाथजीके पास गये थे तब उन्होंने प्रभुसे प्रश्न किया था कि जब मैं आपकी मायासे मोहित होकर ब्याह करना चाहता था तब आपने मुझे विवाह क्यों न करने दिया। उसपर प्रभुने यह उत्तर दिया कि *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (३। ४३) सिद्ध, महामुनि और योगियोंको अपने साधन ज्ञान, योग, पुरुषार्थ-बलका भरोसा रहता है। ये प्रौढ़ (सयाने) लड़के हैं, अपनी रक्षा स्वयं करें। परन्तु उपासकोंको श्रीरघुनाथजीको छोड़ स्वप्नमें भी दूसरोंका आशा-भरोसा नहीं रहता। ये शिशु-समान हैं। इसीसे प्रभु उनकी रक्षामें माता-सरीखे सदैव लगे रहते हैं।

नोट—४ ☞कोई-कोई *'जे राखे रघुबीर'* का अर्थ 'जिन्होंने रघुबीरको हृदयमें धारण किया' ऐसा करते हैं।

नोट—५ (क) *'चलत मार अस हृदय बिचारा।'* (८४। ४) उपक्रम है और *'जब लगि काम संभु पहिं गएऊ'* उपसंहार है। (ख) *'जे' 'ते'* के सम्बन्धसे अलङ्कारमञ्जूषाके मतानुसार यहाँ 'प्रथमनिदर्शना अलङ्कार' है और वीरकविजीके मतसे—'पहले यह कहकर कि कामदेवने सभीके मनको हर लिया, फिर अपनी कही हुई बातके विपरीत कथन कि *'जे राखे रघुबीर'*······' उक्ताक्षेप अलङ्कार है। (ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'हमने यह बात परम्परासे सुनी है कि गोस्वामीजीने पूर्वार्ध सोरठा लिखा तब सोचमें पड़ गये कि यह क्या अनर्थ हो गया; सबमें तो शिवजी भी आ गये। तब श्रीहनुमान्‌जीने उत्तरार्ध लिख दिया।' ऐसी ही किंवदन्ती *'बूड़ सो सकल समाज'* के विषयमें है। परन्तु इसकी सचाई कहाँतक सम्भव है यह विचारनेसे ही प्रकट हो जाती है।

उभय घरीं अस कौतुक भएऊ। जब* लगि काम संभु पहिं गएऊ॥ १॥
शिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू। भएउ जथा थिति सबु संसारू॥ २॥

शब्दार्थ—**'थिति'**=ठहराव, स्थायित्व, स्थिति, अवस्था, दशा। **'जथा थिति'** होना=पूर्व अवस्था या दशामें हो जाना, पूर्वस्थिति होना। 'यथाथिति' संस्कृत भाषाके 'यथास्थिति' शब्दका अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है **'स्थितिमनतिक्रम्य वर्तते इति यथास्थिति।'** स्थितिका उल्लङ्घन न करके जैसा-का-तैसा रहना। जैसा था वैसा ही।

अर्थ—दो घड़ीतक ऐसा तमाशा रहा जबतक कामदेव शम्भुके पास पहुँच (न) गया॥ १॥ शिवजीको देखकर कामदेव डर गया। सारा संसार (पुनः) ज्यों-का-त्यों स्थिर हो गया॥ २॥

नोट—१ *'उभय घरीं'*······' इति। (क) दो दण्डमें कामदेवने यह कौतुक सारे ब्रह्माण्डमें कर दिया और दो घड़ीतक यह कौतुक होता रहा जबतक शिवजीके पास न पहुँच गया। (नंगे परमहंसजी) प्रायः अन्य बहुत लोगोंके मतानुसार **'घरी'**=दण्ड। *'दुइ दंड भरि'* जो छन्दमें कहा था, वहींसे फिर प्रसङ्ग उठा रहे हैं कि *'उभय घरीं अस कौतुक'*······' बीचमें कवि अपनी उक्ति कहने लगे थे कि *'जे राखे'*······' (ख) *'जब लगि'*······' इति। इससे जनाया कि स्वर्गसे रास्ता चलते हुए ब्रह्माण्डभरमें उसने यह प्रभाव फैलाया। शिवजीके निकट पहुँचनेके पूर्व ही वह यह सब कौतुक रच चुका था और सारे ब्रह्माण्डको वशमें कर लिया था। शिवजीके पास पहुँचनेके समयतक ही यह कौतुक रहा, पहुँचते ही कौतुकका अन्त हो गया, सब कौतुक खतम हो गया।

नोट—२ *'शिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू'*······' इति। (क) *'ससंकेउ'*—सशंक हो गया, शंकितहृदय वा संदेहयुक्त हो गया, डर गया। हृदयमें शङ्का हो गयी कि ये दुराधर्ष हैं, इन्हें कैसे जीत सकूँगा, इत्यादि। जगत्‌को वश करनेवाला अपना प्रभाव भूल गया। ☞कुमारसम्भवमें भी ऐसा ही कहा है; यथा—'**स्मरस्तथा भूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥**' (सर्ग ३ श्लोक ५१) अर्थात् शिवजीके निकट जानेपर ज्यों ही कामदेवकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह भयसे शिथिल हो गया, उसको यह भी सुध-बुध न रही कि उसके हाथोंसे धनुष-बाण मारे भयके गिर पड़े हैं।—यही सब भाव *'ससंकेउ'* के हैं। (ख) *'भएउ जथा थिति'*······' इति। तात्पर्य कि भयसे कामका वेग नहीं रह जाता। जब कामदेव डरा तब लोग यथास्थित हो गये, जगत् निर्भय हो गया, जैसा पूर्व अपनी मर्यादामें था वैसा ही पुनः हो गया। (पं० रा० कु०) यह शिवजीका प्रभाव दिखाया।

* १६६१ की पोथीमें 'जव' है अर्थात् 'व' है।

भए तुरत जग* जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गएँ मतवारे॥ ३॥
रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना॥ ४॥

अर्थ—संसारके (सब) जीव तुरंत सुखी हो गये। जैसे मद (नशा) के उतर जानेपर मतवाले सुखी होते हैं॥ ३॥ दुराधर्ष, दुर्गम, षडैश्वर्यमान् रुद्र (श्रीशङ्करजी) को देखकर कामदेव भयभीत हो गया॥ ४॥

*** भए तुरत ''मद उतरि गएँ मतवारे ***

नोट—१ (क) मदिरा या कोई भी मद्य पान करनेपर जब कोई मतवाला हो जाता है तब उसके कर्म, वचन और तन किसीका भी सँभाल नहीं रह जाता। यथा—*'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥'* (१। ११५) जब नशा उतर जाता है तब सावधानता आती है। इसी तरह जबतक कामरूपी भूत सिरपर सवार रहता है, तबतक मनुष्यके विचार और बुद्धि उसे छोड़ देते हैं। दितिकी कथा श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध ही है कि कामान्ध होनेके कारण उसने कश्यपजीकी एक न मानी और कामरूपी मदके उतरनेपर फिर पश्चात्ताप करने लगी। (भा० ३। १४) हाथी जब मदान्ध होता है, उसका मद बहता है, तब वह बड़ा ही व्याकुल हो जाता है। वही मद निकल जानेपर शान्त हो जाता है। वैसे ही ब्रह्माण्डमें सर्वत्र हुआ। कामका नशा जाता रहा, तब सबके विचार ज्यों-के-त्यों पहले-सरीखे हो गये। जो जैसा पहले था, वैसा ही पुनः हो गया। अर्थात् जो पूर्व जितने कामी थे वे उतने ही कामी रह गये, जो कामी न थे वे अब कामके वश न रह गये। (ख) मद्यका उदाहरण देनेका भाव यह है कि जैसे मदिरापानसे लज्जा, भय और मर्यादा तीनों ही नहीं रह जाते। मदिरा श्रेष्ठ लोगोंको भी दूषित कर देती है। वैसे ही कामने किया था। उसके नशेमें भी लज्जा, भय, मर्यादा तीनों ही नष्ट हो गये थे। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि मदिरा और काममें इतना ही अन्तर है कि 'काम भावविशेष्य है'। (ग) *'भए सुखारे'* कथनसे पाया गया कि दो घड़ी बड़ी व्याकुलता रही; यथा—*'मदन अंध ब्याकुल सब लोका।'*

नोट—२ 'कामका तो भोग है, तब दुःखी कैसे हुए?'—यह शंका उठाकर उसका उत्तर पं० रामकुमारजी यह देते हैं कि सब जीव कामके भारसे दुःखित हुए, दो दण्डमें सबको भोगकी प्राप्ति न हुई, मन बिगड़ता रहा, स्त्रियाँ थीं नहीं, भोग किससे करते। (पं० रा० कु०) और जिनके स्त्री थी तो समय अनुकूल न था।

टिप्पणी—१ *'रुद्रहि देखि मदन भय माना।'''''''* इति। (क) रुद्र प्रलयके देवता हैं। शिवजीको देखकर भयकी प्राप्ति हुई, इससे 'रुद्र' नाम दिया। यथा—*'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥'* (१। ९६) रुद्र=रौद्ररससे परिपूर्ण। इस शब्दसे ही भयंकरकी भयानक मूर्तिका ध्यान हृदयमें आ जाता है। रुद्र शब्द ही भयका सूचित करनेवाला है। उसका अर्थ भी 'भयंकर, भयावन' है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (कामदेवका 'मद न' रह गया, अतः 'मदन' नाम दिया।) (ख) 'दुराधर्ष' अर्थात् दबनेयोग्य नहीं हैं। दुर्गम हैं अर्थात् उनके समीप कोई जा नहीं सकता और भगवान् हैं अर्थात् प्रलयकर्त्ता हैं। पुनः, भाव कि दुराधर्ष हैं इसीसे वह उन्हें आगे दबा न सका और दुर्गम हैं, अतः उनको न *'पेलि सका'*।—(दुराधर्ष=जिसका पराजय करना, दबाना, उपमर्दन करना या तिरस्कार करना इत्यादि अत्यन्त कठिन है। *'भगवाना'* का भाव कि इनमें ज्ञान, वैराग्य आदि षडैश्वर्य सदा रहते हैं, अतः उनपर वार नहीं चल सकता)। (ग)—पूर्व लिख आये हैं कि *'सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू'* और अब यहाँ फिर लिखते हैं कि *'रुद्रहि देखि मदन भय माना।'* दोनों एक ही बात होनेसे पुनरुक्ति होती है? समाधान यह है कि यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। जो पूर्व लिखा था कि *'ससंकेउ मारू'* उसीको अब यहाँ स्पष्ट करके लिखते हैं कि किस कारण वह सशंकित हुआ था। दुराधर्ष, दुर्गम और प्रलयकारी मूर्ति देखकर शंकित हुआ था। अथवा, पूर्व दूरसे देखा तब शंकामात्र हुई थी और अब निकटसे देखनेपर भयभीत हो गया। [अथवा, पूर्व केवल सशंकित होनेका परिणाम कहा गया कि संसार पुनः ज्यों-का-त्यों स्थित हो गया।—*'ससंकेउ मारू। भएउ जथा थिति सब संसारू॥'* और अब भयका कारण बताते हैं। अथवा,

* सब—भा० दा०, रा० गु० द्वि०।

पूर्व शंकित होना कहकर बीचमें संसारका पूर्ववत् स्थित होना कहने लगे थे, अब पुनः वहींसे सम्बन्ध मिलाते हैं, इसीसे पुनः भयका मानना लिखा गया।]

फिरत लाज कछु करि* नहिं जाई। मरनु ठानि मन रचेसि उपाई॥५॥

प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा†। कुसुमित नव तरु राजि‡ बिराजा॥६॥

अर्थ—फिरते हुए लज्जा लगती है और कुछ किया जाता नहीं (अर्थात् कुछ करते बनता नहीं)। मनमें मरनेका निश्चय कर उसने उपाय रचा॥५॥ उसने तुरंत ही सुन्दर ऋतुराज वसन्तको प्रकट किया। फूले हुए नये-नये वृक्षोंकी कतारें सुशोभित हो गयीं॥६॥

नोट—१ *'फिरत लाज'* इति। लज्जा इससे होती है कि देवताओंको वचन दे आया था कि *'तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥'* अब उनको मुँह कैसे दिखाऊँगा। चढ़ाई करके फिर भागनेसे जो दशा वीरकी होती है वह 'लाज' से जना दी, यथा—*'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥'* (२। १४४। ८) भारी अपयश होगा, यह लज्जा है। अतः यह निश्चय किया कि लौटनेसे तो मर जाना ही अच्छा है, क्योंकि सबके सामने डींग मारी थी कि *'पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* २—*'कछु करि नहिं जाई।'*—भाव कि करना चाहता है, पर भयवश कुछ किया नहीं जाता। ३—*'मरनु ठानि······'* इति। *'मरता क्या नहीं करता'* यह लोकोक्ति है। मनमें मरनेका निश्चय किया, क्योंकि काम किये बिना लौट जाय तो सबको मुँह क्या दिखायेगा, हँसी होगी और *'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* कहा ही है। अतः निश्चय किया कि मर जाऊँ तो मर जाऊँ, एक बार अपना सारा पौरुष खर्च कर दूँ। अतः जिस भयके मारे शिथिलता आ गयी थी, कुछ पुरुषार्थका साहस न रह गया था, उसे छोड़कर निःशंक होकर फिर पुरुषार्थ करने लगा।

टिप्पणी—१ (क) *'प्रगटेसि तुरत······'* इति। तुरत प्रकट करना कहकर जनाया कि अपनी मायासे प्रकट किया। यथा—*'तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥'* (१। १२६) ऋतुराजको प्रकट करनेसे पाया गया कि उस समय और कोई ऋतु थी, वसन्त न था। *'रुचिर रितुराजा'* का भाव कि जो वसंत-ऋतु अपने समयपर होती है, उससे यह वसंत बहुत अधिक सुन्दर है। (ख) *'कुसुमित नव तरुराजि बिराजा'* इति। वसंतको निर्माण किया है, अतः वृक्षोंका कुसुमित होना कहा और वृक्ष कुसुमित हैं अतः 'नव' अर्थात् 'नमित' हैं। ('नव' से नवीनका भी अर्थ होता है) मायिक है, अतः वि (विशेष)+राजा (शोभित हैं) कहा।

बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥७॥

जहँ तहँ जनु उपजत अनुरागा। देखि मुएँहु मन मनसिज जागा॥८॥

शब्दार्थ—**उपबन**=छोटे-छोटे वन जो वनके पास हों=हाथसे लगाये हुए वृक्षोंका वन। पुराणोंमें चौबीस उपवन गिनाये गये हैं।

अर्थ—वन, उपवन, बावली, तालाब और दिशाओंके सब विभाग परम सुन्दर हो गये॥७॥ जिधर देखो उधर ही मानो प्रेम ही उमड़ रहा है, जिसे देखकर मरे हुए (एवं मरे हुओंके) मनमें भी काम जाग उठा॥८॥

टिप्पणी—१ *'बन उपबन बाटिका तड़ागा।'* इति। (क) (वन, उपवन सुन्दर हैं, विहारके योग्य हैं। वापिका और तड़ाग जलक्रीड़ाके योग्य हैं। वि० त्रि०) वन और उपवनकी शोभा जलाशय बिना नहीं

---

* कहि—ना० प्र०। † रितुराजू, बिराजू—छ०। ‡ साख—१७२१, छ०। जाति—१७६२, को० रा०। राज—ना० प्र०, १७०४। राजि—१६६१। साख—पाठान्तर। ☞ 'राजि' संस्कृत भाषाका शब्द है, जिसका अर्थ है—पंक्ति, अवली, कतार। ग्रन्थमें अन्यत्र भी इसका प्रयोग है। यथा—'चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहु सुभग सावन घन राजी॥' (१। ३००) 'तरुराज' पाठका श्रेष्ठ आम या पारिजात वृक्ष अर्थ करते हैं।

होती, इसीसे वन, उपवनको कहकर *'बापिका तड़ागा'* कहा। (ख) *'परम सुभग सब'* कहकर जनाया कि दसों दिशाओंमें पृथक्-पृथक् न्यारी-न्यारी सुन्दरता है। (सब दिशाएँ और उनके विभाग ये हैं—पूर्व, आग्रेयी, दक्षिण, नैर्ऋती, पश्चिम, वायवी, उत्तर, ईशानी, ऊर्ध्व और अध:। *'उमगत अनुरागा'* से यहाँ कामासक्तिका उमड़ना कहा। अनुरागा=कामकी लहर। *'जहँ तहँ जनु……'* में अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। *'परम सुभग सब दिसा बिभागा'* कहकर *'उमगत अनुरागा'* और *'मनसिज जागा'* कहनेका भाव कि सौन्दर्य देखकर अनुराग होता है, उससे कामोद्दीपन होता है। आगे भी *'जागै मनोभव मुएँहु मन बन सुभगता न परै कही'* इसी भावसे कहा गया है।

नोट—१ *'देखि मुएँहु मन……'* इति। साधारणत: इसका अर्थ तो यही होता है कि 'मरे हुओंके भी मनमें कामोद्दीपन हुआ।' परंतु इस अर्थमें लोग शंका करते हैं कि 'यहाँ 'देखि' शब्द आया है और निर्जीव प्राणियोंका देखना नहीं कहा जा सकता?' यहाँ कामदेवकी अत्यन्त उत्कृष्टता, उसका प्रचण्ड प्रभाव दिखा रहे हैं, अत: असम्भवका भी सम्भव होना कहा गया। यह 'असम्भवातिशयोक्ति अलंकार' है। प्राय: औषधियोंके विषयमें प्रशंसा करते हुए यह कहा ही जाता है कि यह जड़ी ऐसी ही है कि मरा हुआ भी जी उठे। पुन: जैसे काश्मीरके सम्बन्धमें कहा जाता है कि जली हुई लकड़ी भी हरी हो जाती है। वैसे ही यहाँ कहा गया। मरा हुआ बीज नहीं जमता, पर यहाँ वह भी जमा। (पं० रा० कु०) ☞*'मुएँहु'* से मृतप्राय लोगोंका भाव लेना चाहिये। यथा—'**अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्। वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥**' चर्पटपञ्जरीमें कही हुई यह दशा मृतकवत् है। मानसमें भी 'अतिबूढ़े' को मृतकवत् ही माना है। यथा—*'अतिबूढ़ा।……जीवत सव सम चौदह प्रानी।'' 'मुएहि बधे नहिं कछु मनुसाई।'* (६। ३०); (८७। ७) भी देखिये।

पाँडेजी इस शङ्काके निवारणार्थ *'मुएँहु मन'* का अर्थ 'नपुंसकके मनमें भी' वा 'मरे हुए मनमें भी' करते हैं। 'मरे हुए मन'='जिनके मन शमदमादि साधनोंद्वारा संकल्प-विकल्परहित हो गये हैं।=जिन्होंने अपने मनको कामकी ओरसे भलीभाँति मार रखा है। जैसे पारा मारा (फूँका) जाता है तो उसकी चञ्चलता दूर हो जाती है, वैसे ही इनके मन मर गये हैं।' इस अर्थके ग्रहण करनेमें फिर यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'ऐसे लोगोंका वर्णन तो पूर्व कर चुके हैं; यथा—*'सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए बियोगी॥'* तो अब यहाँ दूसरे कौन हैं जिनसे तात्पर्य है? इस प्रश्नको उठाकर वे ही यह समाधान करते हैं कि यहाँ *'मुएँहु मन'* शिवजीके समीपवर्त्ती सिद्ध, मुनि आदिसे तात्पर्य है, जिनकी चर्चा *'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुख कंद॥'* दोहा १०५ में आयी है और पूर्व ब्रह्माण्डके सिद्ध, विरक्त आदिको कहा था। परंतु कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि पूर्व वे निकटवर्त्ती सिद्धादि मोहित नहीं हुए थे।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'मनकी बीज-वासना है। निर्वासन मन मरा हुआ है, क्योंकि उसका बीज नष्ट हो चुका है, पर सुन्दरतामें यह प्राणदा शक्ति है कि मरा हुआ मन भी थोड़ी देरके लिये जाग उठता है।'

विनायकी टीकाकार इस प्रसङ्गपर लोलाम्बराजका यह श्लोक देते हैं—

'**ताम्बूलं मधु कुसुमस्रजो विचित्राः कान्तारं सुरतरुर्नवा श्रिलासवत्य:। गीतानि श्रवणहराणि मिष्टमन्नं क्लीबानामपि जनयन्ति पञ्चबाणम्॥**' अर्थात् पान, वसन्त, सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ, सघन वन, दिव्य वृक्ष, नवयौवना स्त्री, कर्णमधुर गीत और स्वादिष्ट अन्न—ये पदार्थ गिरे हुए दिलवालों (नामर्दों) के भी मनमें कामोद्दीपन करते हैं। दोहा (८७। ७) भी देखिये।

छंद—जागै मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही॥

बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥

अर्थ—मरे हुओंके एवं मरे हुए मनमें भी काम जाग उठा। वनकी सुन्दरता कही नहीं जा सकती। कामरूपी अग्निका सच्चा सखा शीतल, सुगन्धित और सुन्दर मन्द पवन चलने लगा। तालाबोंमें बहुत-से कमल खिल उठे। सुन्दर भ्रमरोंके समूह गुंजार कर रहे हैं। कलहंस, कोयल और तोते रसीली ध्वनि कर रहे हैं, अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं।

खर्रा—'*मुएँहु*' मनमें मनसिजका जागना कहकर आगे बताते हैं कि कैसे जागा। इस तरह कि शीतल-सुगन्ध-सुमन्द पवन हृदयमें प्रवेश करके कामाग्निको प्रज्वलित कर दिया। '*सखा सही*' कहकर उसमें यह अभिप्राय कह दिया है।

नोट—१(क) '*मदन अनल सखा सही*' इति। सही=सच्चा। कामदेव भयभीत है। इस आपत्तिमें (शीतल-सुमन्द-सुगन्धित) पवनने उसकी सहायता की। इसलिये उसे 'सच्चा' सखा कहा। यथा—'*आपत काल परखिअहिं चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥*' '*बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥*' (४। ७) यहाँ कामको अग्नि कहा। पवन अग्निको प्रज्वलित करता ही है। इसलिये पवनको अग्निका सखा कहा गया। शीतल, मन्द और सुगन्धित पवनसे कामोद्दीपन होता है; यथा—'*चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी॥*' (१२६। ३) इससे यह कामका मित्र हुआ और आपत्तिमें सहायता करनेसे 'सच्चा सखा' हुआ। [पवन अग्निका सखा प्रख्यात है, पर वह सच्चा सखा नहीं है, वह दीपकको बुझा देता है। यथा—'*सबै सहायक सबलके कोउ न अबल सहाय। बात बढ़ावत अगिनको दीपहि देत बुझाय॥*' परंतु शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन कामाग्निका सच्चा सखा है। कैसी ही दुर्बल कामाग्नि हो, उसे वह बढ़ा ही देगा। इसीलिये '*मदन अनल सखा सही*' कहा। (वि० त्रि०)] (ख) '*मंजुल मधुकरा*' से जनाया कि ये साधारण भौंरोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर हैं। 'कलहंस'—इस ग्रन्थमें हंस तीन प्रकारके कहे गये हैं—हंस, राजहंस और कलहंस। मधुर स्वरके सम्बन्धसे यहाँ 'कलहंस' को कहा। 'कल' का अर्थ 'सुन्दर' भी होता है। यहाँ मधुर वाणीवाले कलहंससे प्रयोजन है। क्योंकि कामोद्दीपनके लिये मधुर वाणीका प्रयोजन होता है। मिलान कीजिये—'*बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥*' (३। ४०)

नोट—२ वनकी सुभगता '*कुसुमित नव तरु राजि बिराजा*' से '*करि गान नाचहिं अपछरा*' तक कही गयी। वनशोभा, तड़ागशोभा, कमलशोभा और मधुकरशोभा क्रमसे लिखी गयी। हंसकी शोभा चालसे है; यथा—'*सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल।*' '*हंस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू॥*' (२। ६३)

नोट—३ पंपासरके वर्णनसे मिलान करनेसे यहाँकी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। अतः यहाँ हम उनका मिलान देते हैं—

पंपासर	यहाँ
बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।	१ बिकसे सरन्हि बहुकंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा।…… सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई।	२ कलहंस पिक सुक सरस रव
चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए। चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस परास रसाला॥ नवपल्लव कुसुमित तरु नाना।……	३ कुसुमित नव तरुराजि बिराजा।……
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहै मनोहर बाऊ।	४ सीतल सुगंध सुमंद मारुत।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।	पिक सरस रव

उपर्युक्त मिलानसे स्पष्ट है कि—'बहु='नाना रंगके' अर्थात् श्वेत, पीत, अरुण, श्याम आदि रंगोंके विविध जातिके कमल।' 'मधुकरा'=मधुर-मधुर शब्द करनेवाले भ्रमर। '*सरस रव*' अर्थात् रसीले स्वरसे

सबको मोहित और कामासक्त कर देते हैं। *'कुसुमित नव तरु राजि'*=हरे नवीन पल्लवोंसे युक्त, फूल-फलसे लदे हुए चम्पा, कदम्ब, तमाल, मोलसिरी, पाकर, कटहल, ढाक वा पलाश, आम आदिके वृक्ष। *'पिक सरस रव'*='कुहू-कुहू' वा 'पी कहाँ, पी कहाँ,' का रसीला शब्द करती है, जिसे सुनते ही मुनियोंके ध्यान टूट जाते हैं। ☞यहाँतक सब उद्दीपन है, आगे *'करि गान नाचहिं अपछरा'* आलम्बन है।

नोट—४ *'करि गान नाचहिं अपछरा'* इति। ☞(क) गोस्वामीजीने 'अप्सरा' शब्दको बिगाड़कर उसकी जगह भाव भरा हुआ 'अपछरा' शब्दका प्रयोग किया है। वे छल करने, मनको मोहित करने या चुराने आयी हैं, अत: 'अपछरा' बहुत ही उपयुक्त है। अपछरा=अप (=बुरी तरहसे) छरा (=छलनेवाली)। इससे भला कब किसीका भला सम्भव है? ये सदा तपको भ्रष्ट करती रहती हैं।—यह समझकर 'अपछरा' ही प्राय: लिखते हैं। यथा—*'होहिं सगुन मंगल सुभद करहिं अपछरा गान॥'* (९१) इत्यादि। (ख) *'करि गान नाचहिं......'* का भाव कि अपने गान-तान-नृत्यसे मनको विशेष मोहित करनेके लिये आयी हैं। यथा—*'सुरसुंदरीं करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना॥'* (१। ६१) (ग) *'करि गान'* को कोई-कोई कलहंस, पिक और शुकके साथ लगाकर भी अर्थ करते हैं, इस तरह कि—कलहंस, शुक, पिक सरस ध्वनिसे गान करते हैं और अप्सराएँ उनके गानके साथ नृत्य करती हैं। पुन: *'करि गान'* को देहलीदीपक भी मानकर दोनों ओर लेकर अर्थ किया जा सकता है।

दोहा—सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि शिव कोपेउ हृदय निकेत॥ ८६॥

अर्थ—कामदेव सेनासहित करोड़ों प्रकारसे अपनी समस्त कलाएँ करके हार गया। (पर) शिवजीकी अचल समाधि न डगी, तब हृदय ही जिसका घर है वह कामदेव कुपित हो उठा॥ ८६॥

नोट—१ *'सकल कला'* इति। *'सकल कला'* मेंसे कुछ ऊपर *'प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा।'* से *'करि गान नाचहिं अपछरा'* तक लिखे गये। विशेष (१२६। ४—७) में देखिये।

वि० त्रि०—कामका सेनापति शृङ्गार है और हावभावादि सैनिक हैं। यथा—'**सेनाधिपो मे शृङ्गारो हावभावाश्च सैनिका:।**' भाव चार हैं—स्थायी, संचारी, अनुभाव और विभाव। स्थायीके नव, संचारीके तैंतीस, बिभावके दो और अनुभावके अन्तर्गत हावके ग्यारह भेद हैं। कलाएँ चौंसठ हैं। यथा—'**बिब्बोकाद्यास्तथा हावाश्चतु:षष्टिकलास्तथा।**' (का० पु०) ये सब कलाएँ और हाव-भाव अप्सराओंके नृत्यमें दिखाये गये।

नोट—२ (क) *'हारेउ सेन समेत चली न......'* इति। कुमारसम्भव सर्ग ३ श्लोक ४० में कहा है कि उस समय अप्सराओंका गाना सुननेपर शिवजी ध्यानमें और भी जम गये। भला आत्मेश्वरोंकी समाधि छुटानेमें कोई विघ्न समर्थ हो सकता है?' यथा—'**श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हर: प्रसंख्यानपरो बभूव। आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्ना: समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥**' पद्मपुराणमें भी कुछ ऐसा ही है—कामदेवकी कलाको समझकर वे योगमायासे आवृत होकर दृढ़तापूर्वक समाधिमें स्थित हो गये। (ख) *'कोपेउ हृदय निकेत'* इति। भाव कि हृदय ही कामका घर है। शंकरजीने उसका अपने घरमें जानेका रास्ता ही बंद कर दिया। उसे अपने घरमें जानेका रास्ता खोलना है, अत: वह क्रोधरूपी उपायसे राह निकालनेकी युक्ति करने लगा। ☞भला कोई अपने घरसे निकाल दिया जाय, उसमें जानेका रास्ता ही बंद कर दिया जाय तो उसे क्रोध क्यों न होगा? क्रोध हुआ ही चाहे। ये सब भाव *'हृदय निकेत'* और *'कोपेउ'* में हैं। पुन:, *'हृदय निकेत'* कहकर जनाया कि उसने इन्द्रियोंको विषयोंमें प्राप्त कर दिया, पर इन्द्रियाँ विषयोंको न प्राप्त हुई, विषय सामने प्राप्त होते हुए भी इन्द्रियोंने उधर न ताका तब उसे क्रोध हुआ। पुन: भाव कि हृदय उसका निकेतन (घर) है, अत: वह हृदयमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ होगा। इस तरह 'हृदयनिकेत' कहकर आगेकी सफलता यहाँ प्रथम ही जनाये देते हैं। ठीक ही है, अपने घरमें अपनी बात चलती ही है। चलनी ही चाहिये। अपनी गलीमें कुत्ता भी शेर हो जाता है। विशेष आगे चौपाईमें देखिये।

देखि रसाल* बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥ १॥
सुमन चाप निज सर संधानें। अति रिस ताकि श्रवन लगि तानें॥ २॥

शब्दार्थ—**रसाल**=आमका वृक्ष। **साखा** (शाखा)=डाल। **'माखा'**—'माष' क्रिया 'मक्ष' और 'अमर्ष' दोनोंसे बनी हुई मानी जा सकती है। 'मक्ष' का अर्थ है—दम्भ; दोष छिपानेकी चालाकीसे कोशिश। 'मर्ष' सहनशीलताको कहते हैं। 'अमर्ष' का अर्थ हुआ 'अधीरता' 'असहनशीलता' और इसीलिये 'रोष' और 'क्रोध' भी असहनशीलता और अधीरतासे होता है। आगे *'अब जनि कोउ माषै भट मानी।'* (२५२), *'माषे लखन कुटिल भै भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥'* (२५२) और *'तुम्हरे लाज न रोष न माषा'* (६। २४) तथा यहाँ 'माष' से 'न सह सकने और इसीसे रुष्ट वा क्रुद्ध होनेका भाव निकलता है। 'रोष' अर्थ लक्ष्यार्थ है। 'संधानना'—धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसपर बाणको लगाना। **रिस**=क्रोध।

अर्थ—आमके वृक्षकी एक भारी, मोटी सुन्दर डाल देखकर कामदेव मनमें खिसियाया और क्रोधसे भरा हुआ उसपर जा चढ़ा॥ १॥ अपने पुष्पधनुपपर अपने (पाँचों पुष्पके खास) बाण चढ़ाये और अत्यन्त क्रोधसे (लक्ष्य वा निशानेको) ताककर उन्हें कानपर्यन्त ताना (खींचा)॥ २॥

नोट—१ *'देखि रसाल बिटप'* इति। (क) आम शृङ्गाररसकी मूर्ति है। इसीसे आमपर चढ़ा। आमका नाम ही 'रसाल' रसका आलय है और काम भी 'रसालय' है, शृङ्गाररसका रूप ही है (खर्रा)। आमके वृक्षपर चढ़नेके और भी भाव ये कहे जाते हैं—निशाना लगाना है और निशाना ऊँचेसे ही अच्छा लगता है। आजकल भी सिंहके शिकारके लिये मचान बाँधे जाते हैं, जहाँसे सिंहपर निशाना लगाया जाता है (खर्रा)। अथवा जहाँ शिवजी समाधिमें स्थित हैं उसके समीप ही आमका वृक्ष है। (पं०) वा, आमका वृक्ष कामदेवका रथ है, अतः आमपर चढ़ा, मानो अपने रथपर चढ़कर युद्ध करनेको चला। अथवा कामदेवने सोचा कि बाण मारकर इसके पत्तोंमें छिप भी सकेंगे, जिसमें शिवजी देख न सकें। (पं०) अतः आमपर चढ़ा। (ख) *'बर'* से बड़ी श्रेष्ठ बौरोंसे लदी हुई आदि जनाया।

नोट—२ किसी-किसीका मत है कि शिवजी आमकी छाँहमें समाधि लगाये बैठे थे, इसीसे कामदेव उसपर चढ़ा और कोई बटतले समाधिका लगाना और आमका वृक्ष उसके पास होना कहते हैं। पर निशाना सामनेसे और वह भी कुछ दूरीसे विशेष ठीक होता है। पद्मपुराणमें लिखा है कि समाधिस्थलकी वेदी देवदारुके वृक्षसे सुशोभित हो रही थी। और कुमारसम्भवका भी यही मत है, यथा—**'स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्। आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रिचम्बकं संयमिनं ददर्श॥'** (कु० सं० ३। ४४) अर्थात् देवदारुवृक्षके नीचे वेदिकापर व्याघ्रचर्म बिछाये हुए समाधिस्थ त्र्यम्बक शिवजीको कामदेवने, जिसकी मृत्यु निकट आ गयी है, देखा। मानसमें शिवजीका निवास प्रायः वटतले देखा जाता है। पर किस स्थानपर श्रीरघुनाथजीने उनको दर्शन दिये और कहाँ, इसपर मानसकवि चुप हैं।

नोट—३ आम, आमके पुष्प और आमके बौर ये सभी कामदेवको अतिप्रिय हैं। कुमारसम्भवमें नवीन आम्रपल्लवोंसहित आमके पुष्प और बौरको मदनका बाण कहा गया है। यथा—**'सद्यः प्रबालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे। निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥'**(सर्ग ३। २७) अर्थात् आमके कोमल पत्ते ही जिनके पंख हैं ऐसे नवीन बौररूपी बाणोंको तैयारकर वसंतने उनपर भ्रमरोंको बिठा दिया है, जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो बाणोंपर नाम खोद दिया गया है।

'देखि' इति। पूर्व कहा था कि *'कोपेउ हृदय निकेत'* और अब कहते हैं कि *'देखि रसाल ...... चढ़ेउ'* इस तरह पद्मपुराणका भाव भी यहाँ जना दिया कि 'पहले वह वृक्षकी शाखासे भ्रमरकी भाँति झंकार करते हुए भगवान् शङ्करजीके कानमें होकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ था, पर वे उसके कुचक्रको समझकर दृढ़तापूर्वक समाधिमें स्थित हो गये। उनके योगमायासे आविष्ट होनेपर कामदेव जलने लगा, अतः वह

* बिसाल—१७०४। रसाल १६६१, १७२१, १७६२, छं० को० रा०।

वासनामय व्यसनका रूप धारण करके उनके हृदयसे बाहर निकल आया।' बाहर निकलनेपर *'देखि रसाल'* कहा।

नोट—४ *'मन माखा'* इति। जब मनुष्य अपने कार्यसाधनमें रुकावट देख खिसिया जाता है और वह मरण निश्चय जान लेता है तब उसका क्रोध और साहस बहुत बढ़ जाता है और उस दशामें वह बड़ा भारी काम कर डालता है। यही बात *'मन माखा'* कहकर जनायी गयी है।

नोट—५ *'सुमन चाप निज सर संधानें।'*······' इति। (क) *'संधानें'* बहुवचन क्रिया देकर *'निज सर'* से पुष्पके पाँचों बाणोंका धनुषपर लगाना जनाया। अथवा, पद्मपुराणके अनुसार *'निज सर'* से जनाया कि 'आमके बौरका मनोहर गुच्छ लेकर उसमें मोहनास्त्रका अनुसन्धान किया'—यही उसका बाण था जो उसने चलाया। (ख) *'अति रिस ताकि श्रवन लगि तानें'* इति। अभीतक तो कामदेव सेनाकी सहायतासे काम करता रहा था। जब उसने देख लिया कि सेना अपना सब करतब (कर्तव्य) कर चुकी, कुछ बन न पड़ा, तब स्वयं अकेला ही समाधि छुटानेपर उद्यत हुआ। इसीसे यहाँ अब सेनाको नहीं लिखते। रिसमें आकर वीर मनुष्य अपना पूरा-पूरा पुरुषार्थ करनेपर उतारू हो जाता है, उसके बाण कराल हो जाते ही हैं। श्रीराम-खर-दूषणादि और श्रीराम-रावणादिके समरमें इसके अनेक प्रमाण हैं। कानपर्यन्त प्रत्यंचा खींचनेका भाव यह है कि उसने उसमें अपना भरपूर बल लगा दिया। प्रत्यंचा जितना ही ताना या खींचा जाता है, बाण भी उतने ही अधिक वेगसे जाता है, जिससे दुर्वेध्यको भी भेदा जा सकता है। मिलान कीजिये—*'तानि सरासन श्रवन[१] लगि पुनि छाँड़े निज[२] तीर॥ तब चले बान कराल॥'*···*कोपेउ[३] समर श्रीराम। चले बिसिख[४] निसित निकाम॥'* (३। १९-२० खर-दूषण-प्रसंग), वैसे ही यहाँ *'सुमन[१] चाप निज[२] सर संधानें। अति रिस[३] ताकि श्रवन[१] लगि तानें॥ छाँड़े बिसम[४] बिसिख*······*।'* पुन: रावणसमरमें भी ऐसा ही देखिये। यथा—*'भए क्रुद्ध[३] जुद्ध बिरुद्ध*···*। तानेउ चाप श्रवन[१] लगि छाड़े बिसिख[४] कराल[२]॥' राम मारगन गन चले*······*।* (६। ९०) *'खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर एकतीस।'* (६। १०१)—इससे रावणके प्राण ही ले लिये। वैसे ही यहाँ कामदेवने भी देवताओंका काम करनेके लिये प्रबल शत्रु शिवजीके लिये कानतक शरासन खींचकर उनके हृदयको लक्ष्य करके अपने खास तीक्ष्ण बाण छोड़े और उन्होंने जाकर पूरा काम किया।

छाँड़े * बिषम बिसिख† उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥ ३॥
भएउ ईस मन छोभु बिसेषी। नयन उघारि सकल दिसि देखी॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिषम**=तीक्ष्ण।=पाँच। ८३ (८) देखिये। **बिसिख** (सं० विशिख)=बाण। **छोभ** (क्षोभ)= उद्वेग, चंचलता, खलबली। **उघारना**=खोलना।

अर्थ—(फिर) तीक्ष्ण (पाँचों) बाण छोड़े (जो जाकर) हृदयमें लगे तब समाधि छूट गयी और शिवजी जागे॥ ३॥ समर्थ शङ्करजीके मनमें बहुत क्षोभ हुआ। उन्होंने नेत्र खोलकर सब दिशाएँ देखीं॥ ४॥

नोट—१ *'छाँड़े बिसम*······*'* इति। (क) सारी कलाएँ जब सफल नहीं होतीं तब *'निज सर'* से काम लिया जाता है। वैसे ही यहाँ सब तरह हार माननेपर उसने अपने खास पञ्चबाणोंका प्रयोग किया। 'बिषम बाणोंके' संधानकी विषमता वा तीक्ष्णता दिखाते हैं कि उन्होंने जाकर शिवजीके हृदयको क्षुभित कर दिया। यहाँ *'बिषम'* के दोनों अर्थ हैं। (ख) कामके पाँचों बाण बड़े भयंकर हैं। यथा—'**त्वदाशुगानां यद्वीर्यं तद्वीर्यं न भविष्यति। वैष्णवानां च रौद्राणां ब्रह्मास्त्राणां च तादृशम्॥**' इनका वीर्य वैष्णवास्त्र, रौद्रास्त्र और ब्रह्मास्त्रसे भी अधिक है। कामदेवको ब्रह्माजीका वरदान था कि विष्णु, शिव और मैं भी तुम्हारे अस्त्रके वशवर्त्ती रहेंगे। यथा—'**अहं विष्णुर्हरश्चापि तवास्त्रवशवर्तिनः।**' (का० पु०, वि० त्रि०) (ग) *'छूटि समाधि*······*'* इति। समाधि छूटी, अतः ध्यान जाता रहा। पूर्व कहा था कि *'मन थिरु करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥'* तथा *'शिव समाधि बैठे सब त्यागी।'*—अब बाण लगनेसे वह सब

* छाँड़ेउ। † बान—१७२१, छ०, भा० दा० बिसिष—१६६१।

बातें जाती रहीं। ध्यान मनकी एकाग्रतासे होता है सो जो मन स्थिर था वह अब अस्थिर हो गया, जैसा आगे कहते हैं—*'भएउ ईस मन छोभु बिसेषी।'* ☞ब्रह्माजीने जो कहा था कि *'पठवहु कामु जाइ सिव पाहीं। करै छोभु संकर मन माहीं॥'* उस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया, अर्थात् वैसा यहाँ कामद्वारा करवाके दिखाया गया, वह काम पूर्ण हो गया।

नोट—२ (क) *'भएउ ईस मन छोभु बिसेषी'* इति। *'विशेष क्षोभ'* से कामके बाणकी 'विषमता' कही। 'पुष्पधनुषपर पुष्पबाण चढ़ाकर उससे समाधि छुड़ाना, अपूर्ण कारणसे कार्यका उत्पन्न करना *'द्वितीय विभावना अलंकार'* है।' (वीरकवि) 'ईश' का भाव कि श्रीरामजीकी माया ऐसी प्रबल है कि 'अक्षोभ' और 'ईश्वर' अर्थात् ऐश्वर्यवान् समर्थ शिवजीतकका मन क्षुब्ध हो गया। (वै०) (ख) शङ्का—'शिवजी तो श्रीरामजीके ध्यानमें थे तब कामदेवसे उनको विघ्न क्यों हुआ?', समाधान—प्रभुकी तो आज्ञा थी कि *'अब उर राखेहु जो हम कहेऊ'* (७७) *'जाइ बिबाहहु सैलजहि'* (७६) यह प्रभुने कहा था और इसीको हृदयमें धरनेको कहा था। शिवजीने यह आज्ञा शिरोधार्य भी की, यथा—*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।'* *'आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी'* (७७) परंतु तत्पश्चात् इस आज्ञाका पालन न कर वे समाधिस्थ हो बैठे, उनकी आज्ञाको हृदयमें धरनेके बदले उन्होंने उनकी मूर्ति हृदयमें धर ली और श्रीपार्वतीजी तथा देवताओंका दुःख हरना इस समय परम आवश्यक है। अतएव समाधिमें विघ्न हुआ। (वै०) (ग) *'नयन उघारि'* इति। इससे जनाया कि शिवजीकी समाधिमें नेत्र बंद थे। (पद्मपुराणकी कथामें उनके नेत्र अधखुले थे और उनकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर जमी हुई थी। उससे एकवाक्यता यों की जा सकती है कि पूर्व जो नेत्र अधखुले थे और एक ओर ध्यानमें लगे हुए थे उनको उस ओरसे उठाकर पूरा खोला और सब दिशाओंमें देखा।) नारदजीकी समाधिमें नेत्र खुले हुए थे, इसीसे वहाँ नेत्रोंका खोलना नहीं लिखा गया। पुनः, *'उघारि'* से यह भी जनाया कि कामके किसी करतबसे नेत्र नहीं खुले, वरंच मनमें चञ्चलता आ जानेपर उसका कारण देखनेके लिये उन्होंने स्वयं नेत्रोंको खोला। (घ) *'सकल दिसि देखी'*—सब दिशाओंमें देखा कि चित्तके विकारका क्या कारण है, यथा—'**हेतुं स्वचेतो विकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्।**' (कु० सं० सर्ग ३।६९)

सौरभ पल्लव मदनु बिलोका। भएउ कोपु कंपेउ त्रैलोका॥५॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भएउ जरि छारा॥६॥

अर्थ—आमके पत्तोंमें (छिपे हुए) कामदेवको (उन्होंने) देखा (तो) उन्हें बड़ा क्रोध हुआ जिससे तीनों लोक काँप उठे॥५॥ तब शिवजीने तीसरा नेत्र खोला। देखते ही कामदेव जलकर राख हो गया॥६॥

नोट—१(क) *'सौरभ पल्लव मदनु बिलोका'* इति। पूर्व कामदेवका आमकी मोटी डालपर बैठना कहा था; यथा—*'देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मनु माखा॥'* और यहाँ लिखते हैं कि *'सौरभ पल्लव मदनु बिलोका।'* इसमें भाव यह है कि कामदेवने बाण मारनेके लिये बड़ा रूप धारण किया, इसीसे बड़ी मोटी शाखापर चढ़कर वहाँसे बाण छोड़े। बाण छोड़नेपर जब क्षोभ हुआ और शिवजी नेत्र खोल देखने लगे तब छोटा रूप धरकर आमके पत्तोंमें छिप गया। (शिकारीकी पोशाक भी हरी होती है, पत्ते भी हरे, कामका शरीर भी श्याम।) यथा—*'तरुपल्लव महँ रहेउ लुकाई'* (श्रीहनुमान्‌जी)—(खर्रा) *'मदनु बिलोका'*=कामदेवको देखा। दूसरा भाव कि देखकर जनाया कि अब तू सच ही 'मदन' हो जायगा, तेरा 'मद' न रह जायगा, तेरा नाश ही किये देता हूँ। (ख) *'भएउ कोपु कंपेउ त्रैलोका'* इति। 'कोप' देखकर ऐसा अनुमान होता था कि प्रलय करना चाहते हैं। इसीसे त्रैलोक्य काँप उठा। एक बार सतीका मरण सुनकर कोप किया था तो सब देवता देखे हुए हैं कि दक्षयज्ञकी क्या दशा हुई। उसके पश्चात् यह कोप देखा तो भयभीत हो गये कि न जाने क्या कर डालें? हमारे मित्र कामदेवका नाश न कर डालें।

नोट—२ (क) *'तब सिव तीसर नयन उघारा'* इति। श्रीशिवजीके प्रत्येक सिरमें तीन-तीन नेत्र हैं,

इसीसे त्रिनेत्र वा त्रिलोचन भी उनका नाम है। चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि तीन नेत्र हैं, यथा—'*भारती बदन बिष अदन सिव ससि पतंग पावक नयन*'—(क० उ० १५२), '*निठुर निहारिए उघारि डीठि भाल की*'—(क० उ० १६९) पहले दो नेत्रोंसे देखा कि कामदेव कहाँ छिपा हुआ है और तीसरा नेत्र उसको भस्म करनेके लिये खोला, क्योंकि जलाना काम अग्निका है। कोई-कोई महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि दो नेत्र सूर्य, चन्द्ररूप जगत्‌की उत्पत्ति और पालन करते हैं और अग्निनेत्र प्रलय करनेवाला है। इसीसे त्रैलोक्यवासी काँप उठे। कुमारसम्भवके अनुसार कामदेवको देखते ही तीसरे नेत्रसे अग्निज्वाला निकल पड़ी। (ख) तीसरे नेत्रसे जलानेके अनेक भाव टीकाकारोंने लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) तीसरे नेत्रसे जलाया क्योंकि काम भी चारों फल, अर्थ, धर्म,, काम और मोक्षमें तीसरा है (रा० प्र०) वा, (२) यह तुच्छ जीव है, यदि नेत्रके घूरनेसे ही काम चले तो शस्त्र क्यों चलावें। (पंजाबीजी) वा, (३) कामका मनमें प्रवेश करनेका फाटक नेत्र है; इसलिये द्वारहीपर मारा, भीतर न जाने दिया। (रा० प्र०) वा, (४) श्रीरामजी आपसे पार्वतीजीको ग्रहण करनेको कह गये थे, उसमें काम समाधि छुटाकर सहायक हुआ; इसलिये नेत्रावलोकन कृपादृष्टि है। उसपर यह कृपा की कि अबतक तन होनेसे एकदेशीय था, अब सर्वदेशी बना दिया; यथा—'*बिनु बपु ब्यापिहि सबहि अब*' (८७)। (वै० रा० प्र०)

—अग्निनेत्रसे चितवना और कामका भस्म होना, कारण और कार्य एक साथ होनेसे 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार हुआ—(वीरकवि)।

नोट—३ '**चितवत**' अर्थात् आँख खुलते ही दृष्टि उसपर पड़ते ही वह भस्म हो गया, देर न लगी, देवता मुँहसे कुछ बात भी न कह सके। यथा—'**स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥ क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति। तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥**' (कु० सं०। ३। ७१-७२) अर्थात् कामदेवको देखते ही उनके तीसरे नेत्रसे अग्निज्वाला निकली और जबतक देवगणके मुखसे वचन निकलें-निकलें कि हे प्रभो! क्रोधको रोकिये, रोकिये, तबतक ज्वालाने कामदेवको भस्म ही कर डाला।

हाहाकार भएउ जग भारी। डरपे सुर भए असुर सुखारी॥ ७॥
समुझि कामसुख सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी॥ ८॥

शब्दार्थ—**हाहाकार**=शोर, हलचल, हा, हा! हाय! हाय!—ये शोकके वचन हैं। डरपना=डरना; यथा—'*एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा॥*' (१। १६६) **भोगी**=इन्द्रियोंका सुख चाहनेवाले; विषयासक्त, विषयी; व्यसनी लोग, **अकंटक**=कंटक (काँटा) रहित—निष्कंटक, विघ्नबाधारहित; बेखटका।

अर्थ—संसारमें बड़ा हाहाकार मच गया। देवता डर गये और दैत्य प्रसन्न हुए॥ ७॥ विषयी लोग कामसुखको याद कर-करके सोचमें पड़ गये और साधक योगी निष्कंटक हो गये॥ ८॥

नोट—१ '*हाहाकार भएउ जग भारी। डरपे सुर……*' इति। देवताओंने जब तारकासुरसे पीड़ित हो श्रीब्रह्माजीसे जा पुकार की तब '*सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ। संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ॥ ८२॥ मोर कहा सुनि करहु उपाई।*' श्रीब्रह्माजीके आज्ञानुसार देवताओंने शिवजीकी समाधि छुड़ानेके लिये कामदेवको भेजा था। श्रीशिवजीने अग्निनेत्र खोलकर कामदेवको भस्म कर दिया। देवता भयभीत हो गये हैं, क्योंकि काम ही जब भस्म हो गया तब शिवजीके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होना ही असम्भव हो गया, पुत्र न उत्पन्न होनेसे तारकासुरका वध नहीं हो सकता, अब असुर और भी सतावेंगे। जो कारण देवताओंके शोकका हुआ, वही असुरोंकी प्रसन्नताका हुआ ही चाहे। दूसरा कारण भयका यह है कि हमलोगोंने कामदेवको समाधि छुड़ाने भेजा था, यह जानकर शिवजी हमें भी दण्ड न दें। जैसे दक्ष-यज्ञमें दक्षकी सहायता करनेवाले सब देवताओं और मुनियोंको भी भारी दण्ड दिया गया था। यह तो स्वर्गवासियोंके भयका कारण हुआ। पुनः भाव कि कामके नाशसे तो सभीके वंशोंका अब नाश ही हुआ, पितृतर्पणादि कौन करेगा! इत्यादि। इससे जगत्‌के और लोगोंमें हाहाकार मचा।

नोट—२ *'समुझि काम सुख सोचहिं भोगी……'* इति। (क) विषयी लोगोंको चिन्ता हो गयी कि अब विषय-सुखभोग कैसे करेंगे। मैथुन विषयानन्द आठ प्रकारका है; इसीसे विषयीका कामसुख समझकर सोचना कहा। अथवा, वे सोचते हैं कि कामदेव भस्म कर दिया गया तब तो हमें अब कामवासना ही न पैदा होगी; अतः भोगके सुखसे अब हम सदाके लिये वंचित रहेंगे। (ख) *'भए अकंटक साधक जोगी'* इति। साधक योगियोंके लिये काम काँटा है अर्थात् शत्रु है; यथा—*'भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै।'* (८५) वे अकंटक हो गये अर्थात् शत्रुहीन हो गये। यथा—*'आए करै अकंटक राजू।'* (२। २२८)

नोट—३ ☞यहाँतक शिवजीकी समाधि छुड़ानेके प्रसङ्गमें कामदेवके तीन आक्रमण वा एकके बाद एक करके तीन बार उपाय करना कहकर यह भी दिखाया गया है कि 'सिद्ध, विरक्त, महामुनि, योगीश, तापस' आदिसे शिवजी कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। सिद्धादिको मारने (कामवश करने) में न तो कामदेवका ही काम पड़ा और न उसकी सेनाका। वे तो उसके प्रभावमात्रसे ही मारे गये। देखिये कामदेव जब देवताओंसे विदा होकर चला तब प्रथम उसने केवल अपना प्रभाव फैलाया; यथा—*'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा'* और इतनेहीसे उसने *'निज बस कीन्ह सकल संसारा।'* कामके प्रभाव एवं कौतुकका वर्णन *'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।'* (८४। ५) से लेकर *'धरी न काहू धीर……'* (८५) तक है। इस खेलमात्र (प्रभावदर्शनमात्र) से *'भए कामबस जोगीस तापस।'* पर इसका किञ्चित् भी प्रभाव शिवजीपर न पड़ा। यह प्रथम आक्रमण हुआ। शिवजीपर कुछ भी प्रभाव न पड़नेसे वह खिसिया गया और प्राणोंपर खेलकर उसने दूसरा उपाय रचा। उसने रुचिर ऋतुराजको प्रकट किया। वनकी परम सुभगता आदि उपाय रचे, जिसे देख *'मुएँहु मन मनसिज जागा।'* *'मुएँहु मन'* से जनाया कि सिद्ध विरक्त महामुनि *'जोगी'* और *'जोगीस तापस',* जिनका पूर्व ही कामके प्रभावसे ही पराजित होना कह आये हैं, उनसे ये *'मुएँहु मन'* अधिक हैं, क्योंकि इनको प्रभावमात्रसे न वश कर सका था, इनके लिये विशेष उपाय रचना पड़ा था। (८६। ६) ८६ *'मुएँहु मन'* देखिये।—यह दूसरा आक्रमण है, जो *'मरनु ठानि मन रचेसि उपाई'* (८६। ५) से लेकर *'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।'* (८६) तक वर्णित है—यहाँ काम और उसकी सेनाकी कलाओंका बल दिखाया, पर इसका भी प्रभाव शिवजीपर न पड़ा। तब उसने स्वयं अपना निजका पुरुषार्थ दिखाया *'कोपेउ हृदय निकेत'* (८६) से *'छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे।'* तक है। यह तीसरा आक्रमण है। इससे शिवजीकी समाधि छूट गयी।

नोट—४ *'कामु भएउ जरि छारा'* इस एक कारणसे ही कई विरोधी कार्य एक साथ उपस्थित हो गये। देवता डरे, असुर सुखी हुए, भोगी चिन्तित हुए और योगी निष्कण्टक हो गये। अतः यहाँ 'प्रथम व्याघात' अलङ्कार है।

छंद—जोगी अकंटक भए पति-गति सुनत रति मुरुछित भई।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करत संकर पहिं गई॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही॥

शब्दार्थ—**रति**=कामदेवकी स्त्री जो दक्षके पसीनेसे उत्पन्न उनकी कन्या मानी जाती है। सबसे अधिक रूपवती और सौंदर्यकी साक्षात् मूर्ति होनेसे समस्त देवताओंके मनमें इसे देखकर अनुराग उत्पन्न हुआ था; इसीसे इसका नाम 'रति' पड़ा। **करुना** (करुणा)=वह दुःख जो अपने प्रिय बन्धु इष्ट-मित्रादिके वियोगसे उत्पन्न होता है। शोक। **सही**=सत्य, सचमुच, निश्चय।

अर्थ—योगी बेखटके अर्थात् निश्चिन्त हो गये। रति अपने पतिकी दशा सुनते ही मूर्च्छित हो गयी। रोती-पीटती है, विलाप करती है, (इस तरह) बहुत प्रकारसे शोक करती हुई वह (कल्याणकर्ता) शङ्करजीके

पास गयी। अत्यन्त प्रेमसे बहुत प्रकारसे विनती करके वह हाथ जोड़े सामने खड़ी रह गयी। समर्थ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, दयालु शिवजी अबला (असहाय स्त्री) को देख बोले ही तो सही। (अर्थात् दुःखित देख रहा न गया, करुणा आ गयी और प्रसन्न होकर वे शुभ वचन बोल ही पड़े।)

नोट—१ (क) *'पति गति सुनत'* इति। किससे सुना? पद्मपुराण और कुमारसम्भवमें तो 'रति' का कामदेवके साथ वहाँ जाना और आक्रमणमें सहायक होना कहा गया है; यथा—**'समाधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च सा शंकमनुप्रयातः। अंगव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम॥'** (कु० सं० ३। २३) अर्थात् मदन अपने प्रिय सखा वसंत और रतिके साथ हिमाचलपर शिवजीके आश्रममें यह निश्चय करके गया कि चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ पर देवकार्य सिद्ध कर दूँगा। इनके मतानुसार रतिने कामदेवको भस्मीभूत होते स्वयं देखा। पर मानसकार यहाँ *'पति गति सुनत'* अर्थात् दूसरोंसे कामदेवकी गतिका सुनना लिखते हैं। इसीसे रतिका समीप होना नहीं पाया जाता। उससे दूर ही वह रही होगी। *'हाहाकार भयउ जग भारी'* यह देवताओंका हाहाकार सुनकर उसे कामदेवके भस्म होनेका हाल मिला अथवा नारदजीने समाचार दिया हो। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'कामदेवने विभाव प्रस्तुत कर दिया था, पर वहाँ अनुभाव ही नहीं हुआ, स्थायी भाव पुष्ट कैसे हो? अतः रतिका आगमन न हो सका था। उसने पतिकी गति सुनी।'

(ख) *'बदति'*—यह रीति स्त्रियोंमें प्रायः देखनेमें आती है कि मृतककी प्रशंसा कर-करके रोती हैं, कहीं-कहीं सिर और छाती भी पीटती हैं, ये सब भाव *'बदति'* शब्दमें ध्वनित हैं। रावणके मरनेपर भी ऐसा ही हुआ था, यथा—*'पति सिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी॥ जुबतिबृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥ पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धर काहु न धीरा॥'*......*'तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा॥'* (६। १०३) ऐसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। (ग) *'बदति करुना करत'* इति। 'कुमारसम्भव' सर्ग ४ में रतिका विलाप कालिदासजीने वर्णन किया है। उसमेंसे किञ्चित् यहाँ लिखा जाता है। हे प्राणनाथ! तुम्हारा सुन्दर शरीर इस दशाको प्राप्त देखकर भी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं होता। हा! स्त्री कैसी कठोर होती है। हे पति! तुम जो यह कहा करते थे कि तू मेरे हृदयमें रहती है, मेरी प्रिया!' वे वचन तुम्हारे कहाँ गये? वे वचन तो आज मुझे छल ही प्रतीत होते हैं, नहीं तो तुम्हारा शरीर नष्ट होनेपर 'रति' नष्ट क्यों न हुई?......तुम्हारे हाथोंसे बना हुआ वसन्तसम्बन्धी पुष्पोंका यह आभरण मेरे अङ्गोंपर वर्तमान है, परंतु वह तुम्हारा सुन्दर शरीर नहीं दिखायी देता। क्रूर देवताओंके स्मरण करनेपर मेरे पैरोंमें महावर समाप्त किये बिना ही तुम चले गये थे, अब आकर उसे पूरा तो करो।......हे पति! तुमसे अलग होकर मैं छणभर भी जीती रह सकी, यह निन्दा अवश्य मुझे प्राप्त होगी।......हे कामदेव! इस समय दर्शन दो। यह वसन्त तुम्हारा दर्शन चाहता है, पुरुषोंका प्रेम स्त्रियोंमें स्थिर भले न हो, पर मित्रोंपर तो अवश्य ही होता है।......दुःसह दुःखसे मेरा रंग धूम्र-सा हो गया है। मुझे देखो तो सही! हे वसन्त! देखो चन्द्रिका चन्द्रके साथ जाती है, बिजली मेघके साथ नष्ट होती है, स्त्री पतिके मार्गमें जानेवाली है, यह जड़ भी जानते हैं, मुझे अग्नि देकर तुम पतिके समीप पहुँचा दो।......(श्लोक ५—३८)—यही सब बहु भाँतिकी करुणा है।

(घ) *'संकर पहिं गईं।'* शङ्कर शब्दकी सार्थकता उनके आचरणमें प्रकट कर दिखायी है। कल्याणकर्त्ता उनका नाम ही है। अतः वे कल्याण करेंगे, अतः शङ्करके पास गयी और उन्होंने कल्याण किया भी।

नोट—२ *'अति प्रेम करि बिनती'* इति। इससे जनाया कि *'रोदति बदति बहु भाँति करुना करत'* ये शिवजीके पास पहुँचनेके पूर्व मार्गमें चलते हुए समयकी दशाका वर्णन है। समीप पहुँचनेपर *'अति*

प्रेम' से विनती करने लगी। पद्मपुराणमें उसकी *'बिबिध भाँति बिनती'* विस्तारसे है।* कल्याणमय, शरणद, मनोवाञ्छित प्रदान करनेवाले इत्यादि विशेषणोंको दे-देकर उसने बारम्बार नमस्कार करके अन्तमें अपना मनोरथ इस प्रकार कहा है—'मैं अपने प्रियतमकी प्राप्तिके लिये सहसा आपकी शरणमें आयी हूँ। भगवन्! मेरी कामनाको पूर्ण करनेवाले और यशको बढ़ानेवाले मेरे पतिको मुझे दे दीजिये। मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती। पुरुषेश्वर! प्रियाके लिये प्रियतम ही नित्य सेव्य है। आप ही इस भुवनके स्वामी और रक्षक हैं। आप परमदयालु और भक्तोंका दुःख दूर करनेवाले हैं।'

नोट—३ *'प्रभु आसुतोष कृपाल शिव'* इति। *'प्रभु'* का भाव कि आप समर्थ हैं। कर्तुमकर्तुम्, होनी-अनहोनी, सम्भव-असम्भव आप सब कुछ कर सकते हैं। कामदेवको जला दिया, उसे जिला भी सकते हैं। *'आसुतोष'* हैं अर्थात् कोई आपका कितना ही अपराध क्यों न करे, पर यदि फिर दीन होकर विनती करे तो आप उसके पूर्वकृत अपराधोंपर किञ्चित् भी विचार न करके उसपर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। ☞ प्रीति एवं क्रोध तीन प्रकारके कहे गये हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। यथा—*'उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर ब्यतिक्रम जानि॥'* (दोहावली ३५२) आपका क्रोध उत्तम है, शीघ्र मिट जाता है, जैसे पानीकी लकीर। *'कृपाल'* हैं, प्रसन्न होकर शीघ्र कृपा करते हैं, रतिपर भी कृपा करेंगे। *'शिव'* अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। कामदेवके बिना सृष्टि कैसे बढ़ेगी? देवताओंका कल्याण कैसे होगा? यह सब समझकर कल्याणका उपाय करेंगे। (ग) *'अबला निरखि'* इति। *'प्रभु'* कहकर *'अबला निरखि'* कहनेका भाव कि असहाय, असमर्थको देखकर समर्थकी-सी बात कहेंगे, कृपा करेंगे, कृपा न करनी होती तो मौन रह जाते, बोलते नहीं। *'अबला'* नाम ही यहाँ दीनता, निर्बलता, पराधीनता, असहायता और पतिविहीनता सूचित कर रहा है। *'अबला'* का अर्थ है—'नहीं है बल जिसके।' स्त्री पराधीन है पर जबतक पति रहता है तबतक उसे पतिके बलसे बल रहता है। पतिके मर जानेपर, एकमात्र बल जो उसको था, वह भी न रह गया और वह यथार्थ ही *'अबला'* हो गयी। इसीसे *'अबला'* शब्द बहुत ही उत्तम यहाँ प्रयुक्त हुआ है। (घ) *'बोले सही।'* ☞यहाँ दिखाया कि जब विनती मन, कर्म, वचन तीनोंसे की जाती है तब देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं। रतिने मन, वचन, कर्म तीनोंसे विनती की। यहाँ *'अति प्रेम'* से मन, *'करि बिनती'* से वचन और *'जोरि कर'* से कर्म सूचित किया गया। इसीसे शिवजी शीघ्र प्रसन्न हो गये। ग्रन्थमें इसके उदाहरण सर्वत्र हैं।

नोट—४ ☞ यहाँतक मदनकी चढ़ाई और दहन-प्रसङ्गमें चार हरिगीतिका छन्द आये हैं। चार छन्दोंके प्रयोगका भाव यह कहा जाता है कि यहाँ कामदेवने चार चतुष्टयोंको विजय किया है—(१) तप, योग, ज्ञान, वैराग्यको। (२) देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरको। (३) चारों वर्णों और (४) चारों आश्रमोंको। वे० भू० पं० रामकुमारदासजी कहते हैं—(क) यहाँके चारों छन्द कामसम्बन्धी ही हैं। परंतु तीन छन्दोंमें

* पद्मपु० सृष्टिखण्डमें पुलस्त्य-भीष्म-संवादमें मदनदहन-प्रसङ्गकी कथा भी है। पुलस्त्यजी कहते हैं—कामदेवको भगवान् शिवके हुंकारकी ज्वालासे भस्म हुआ देख रति उसके सखा वसन्तके साथ जोर-जोरसे रोने लगी। फिर वह त्रिनेत्रधारी भगवान् चन्द्रशेखरकी शरणमें गयी और धरतीपर घुटने टेककर स्तुति करने लगी।

रति बोली—जो सबके मन हैं, यह जगत् जिनका स्वरूप है और जो अद्भुत मार्गसे चलनेवाले हैं उन कल्याणमय शिवको नमस्कार है। जो सबको शरण देनेवाले तथा प्राकृत गुणोंसे रहित हैं उन भगवान् शङ्करको नमस्कार है। भक्तोंको मनोवाञ्छित वस्तु देनेवाले महादेवको प्रणाम है। कर्मोंको उत्पन्न करनेवाले महेश्वरको नमस्कार है। देव! आप ललाटमें चन्द्रमाका चिह्न धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आपकी लीलाएँ असीम हैं। उनके द्वारा आपकी उत्तम स्तुति होती रहती है। वृषभराज नंदी आपका वाहन है। आप दानवोंके तीनों पुरोंका अन्त करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और नाना प्रकारके रूप धारण किया करते हैं, आपको नमस्कार है। कालस्वरूप आपको नमस्कार है तथा काल और कल दोनोंसे अतीत आप परमेश्वरको नमस्कार है। आप चराचर प्राणियोंके आचारका विचार करनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ आचार्य हैं। प्राणियोंकी सृष्टि आपहीके संकल्पसे हुई है। आपके ललाटमें चन्द्रमा शोभा पाते हैं।

'रतिनाथ' *'काम'* और *'मनोभव'* शब्द क्रमश: स्वतन्त्ररूपसे आये हैं और चौथेमें रतिकी गौणतामें आया है। प्रथम छन्दमें *'रतिनाथ'* का भाव है—रति (आसक्ति, नाथ) (नाथृबंधने) अर्थात् जिसने सबको अपनेमें आसक्त (अर्थात् कामासक्त) करके बाँध लिया है। इस अर्थका स्पष्टीकरण दोहेमें किया गया है, यथा—*'भए सकल बस काम'।* दूसरे छन्दमें *'काम'*—शब्द देनेका भाव कि ब्रह्माण्डभरको वश करनेमें उसे किञ्चित् भी प्रयास नहीं करना पड़ा। ब्रह्माण्डको वश करना उसका एक कौतुकमात्र था। इसीसे दूसरे छन्दमें *'काम'* शब्द दो बार आया है—*'भए कामबस जोगीस'* और **'काम कृत कौतुक अयं'**। कामवश होना कहकर फिर यह भी उसी *'काम'* शब्दसे बताया कि कामने सबको कैसे वशमें कर लिया। **काम**=इच्छा। **काम कृत**=इच्छामात्रसे किया। अर्थात् उसने कौतुककी इच्छामात्र की, बस सब वशीभूत हो गये। प्रथम दो छन्दोंमें दिखाया कि इच्छामात्रके कौतुकसे जीवित-मनवालोंको वशमें कर लिया और तीसरेमें दिखाया कि *'मुये'* मनको सहायकोंकी कृपाद्वारा वश किया और स्वयं मुये मनमें प्रवेश करके उसे जगाया। इसीसे यहाँ *'मनोभव'* नाम दिया गया। जब अपनी इच्छामात्र तथा साथियोंकी सहायतासे भी शिवजीको न क्षुब्ध कर सका तब शरीरके बलका प्रयोग किया और शरीरसे विनाशको प्राप्त हो गया। चौथेमें रतिकी गौणतामें कहकर जनाया कि रतिकी याचनासे (यहाँ 'नाथृ' धातु 'याचने' अर्थमें है) उसे शक्ति एवं शरीर प्राप्त हुआ। शक्ति तुरंत ही प्राप्त हो गयी; इससे उसे पहले कहा। शरीर कालान्तरमें प्राप्त हुआ, अत: उसे पीछे कहा।

(ख) कर्मकाण्डी और शुष्क ज्ञानवाले ज्ञानियोंका वश होना और उपासकोंका उबारना कहा। शिवजी ज्ञानी उपासक हैं अत: काम उनसे डर गया और उन्होंने उसपर निग्रह-अनुग्रह भी किया। ज्ञानी उपासकोंसे काम डरता है। यथा—*'नारद बिष्नु भगत पुनि ज्ञानी'* अत: *'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥'*

दोहा—अब तें रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु॥ ८७॥

शब्दार्थ—**अनंग**=बिना अङ्गका; कामदेवका नाम है। **प्रसंग**=बात।

अर्थ—हे रति! अबसे तेरे स्वामीका नाम 'अनङ्ग' होगा। वह सबको बिना शरीरहीके व्यापेगा। यदि वह कहे कि मुझे तो उससे सुख न होगा तो उसको सान्त्वना देनेके लिये स्वयं ही यह भी कहते हैं (कि) और अब तू अपने पतिसे मिलनेकी बात सुन॥ ८७॥

नोट—१ (क) *'होइहि नामु अनंगु'* इति। अर्थात् अबसे कामदेवका नाममात्र रहेगा, शरीर न रहेगा, पर क्रियाकारिता रहेगी। केवल तेरे मिलापके लिये मैं उसे शरीर देता हूँ। (ख) *'बिनु बपु ब्यापिहि'*—यह अनुग्रह है, प्रसाद है। इस आशीर्वादसे संसारका काम होता रहेगा। *'बिनु बपु ब्यापिहि सबहि'*—प्रसन्नताका फल है। अभीतक वह एकदेशीय था और 'अब सबको बिना अङ्गके ही व्यापेगा,' इस आशीर्वादसे वह सर्वदेशीय, सर्वव्यापी बन गया। (ग) *'सुनु मिलन प्रसंग'* अर्थात् कब और कहाँ वह तुझसे सशरीर मिलेगा, अब यह भी बताता हूँ सो सुन। उसको प्रद्युम्नजीकी प्राप्ति कैसे हुई यह प्रसंग श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० उत्तरार्ध अ० ५५ में है।

जब जदुबंस कृष्न अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा॥ १॥
कृष्नतनय होइहि पति तोरा। बचनु अन्यथा होइ न मोरा॥ २॥
रति गवनी सुनि संकर बानी। कथा अपर अब कहौं बखानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**जदुबंश** (=यदुवंश=राजा यदुका कुल। राजा ययातिके बड़े पुत्रका नाम यदु था जो शुक्राचार्यकी लड़की देवयानीसे पैदा हुआ था। ययातिने जब उससे युवावस्था माँगी और उसने वृद्धावस्थाके बदलेमें अपनी युवावस्था देना स्वीकार न किया तब ययातिने शाप दे दिया। शापकी बात श्रीकृष्णजीने स्वयं उग्रसेनसे कही है। यथा—**'ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने।'**(भा० १०। ४५। १३) अर्थात् हम यादवोंको शाप

है, इससे हम राज्यसिंहासनपर नहीं बैठ सकते। प० पु० भूमिखण्डमें लिखा है कि ययातिने शाप दिया कि 'तेरा वंश राज्यहीन होगा। उसमें कभी कोई राजा न होगा' फिर यदुकी प्रार्थनापर कि मैं निर्दोष हूँ, मुझ दीनपर दया कीजिये, राजाने प्रसन्न होकर वर दिया कि भगवान् तेरे वंशमें अंशोंसहित अवतार लेंगे, उस समय तेरा कुल शापसे मुक्त हो जायगा। यदुवंशका वर्णन भा० ९। ३० में दिया है।

अर्थ—जब पृथ्वीका भारी भार हरण करनेके लिये यदुवंशमें (भगवान्‌का) श्रीकृष्णावतार होगा॥ १॥ तब श्रीकृष्णजीका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा पति होगा। मेरा वचन असत्य नहीं होता॥ २॥ श्रीशङ्करजीके वचन सुनकर रति चली गयी। अब दूसरी कथा विस्तारसे कहता हूँ॥ ३॥

नोट—१ (क) *'जब जदुबंश······'* इति। अर्थात् द्वापरके अन्तमें। इससे जान पड़ता है कि पार्वती-जन्म, तप तथा मदन-दहन यह सब सम्भवतः त्रेताहीमें हुआ। (ख) *'हरन महि भारा'* इति। द्वापरमें बहुत-से राक्षस ही मनुष्यरूप धारणकर पृथ्वीपर आये थे; यथा—'**भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः। आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ॥**'(भा० १०। १। १७) अर्थात् जरासन्ध, कंस, शिशुपाल, वक्रदन्त, दुर्योधनके भाई इत्यादि सब पूर्व जन्ममें राक्षस थे। इन्हींका नाश करनेके लिये भगवान्‌ने यदुवंशमें अवतार लिया। ये सब भूमिपर भारस्वरूप थे। भा० १। ३। २३ में भी कहा है। यथा— '**एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी। रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्॥**' अर्थात् यदुवंशमें बलराम और कृष्णरूपसे जन्म लेकर पृथ्वीका भार उतारा।

नोट—२ *'कृष्नतनय होइहि पति तोरा'* इति। भा० १० उत्तरार्ध अ० ५५में कथा है कि श्रीकृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नजीको सूतिकागृहसे ही शम्बरासुर उठा ले गया था, जब वे दस दिनके भी न थे और ले जाकर समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ एक बलवान् मत्स्यने उनको निगल लिया। दैवयोगसे वह मत्स्य एक मछुवाहेके जालमें फँस गया। धीवरलोग उसे राजाकी भेंटके योग्य समझकर उस मत्स्यको शम्बरके निकट ले गये। शम्बरासुरके रसोइयेने जब उसका पेट चीरा तो उसमेंसे एक सुन्दर बालक निकला। उन्होंने ले जाकर उसे मायावतीको दे दिया, जो शम्बरासुरके यहाँ रसोईकी देख-भालका काम करती थी। मायावतीको बड़ा आश्चर्य हुआ। नारदजीने उसी समय आकर उसे बताया कि यह कामदेवका अवतार है। मायावती पूर्वकी रति थी जो इस रूप और नामको धारणकर अपने पतिकी प्रतीक्षा कर रही थी। नारदजीसे मालूम होनेपर वह उनका पालन करने लगी, मायावतीने प्रद्युम्नको सब वृत्तान्त पूर्व और वर्तमान जन्मका बताया और प्रद्युम्नको मोहनी माया सिखायी, जिससे वे शम्बरासुरके वधके बाद पति-पत्नी दोनों श्रीरुक्मिणीजी (प्रद्युम्नजीकी माता) के पास गये। खोये हुए बेटेको पाकर सब प्रसन्न हुए। हिन्दी शब्दसागरमें न जाने कहाँसे किस प्रमाणसे यह लिखा है कि प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्ध कामदेवके अवतार कहे गये हैं। जो भी हो यदि ऐसा कहीं प्रमाण हो भी तो भी वह न तो गोस्वामीजीका सम्मत है, न शङ्करजीका और न भागवतका। भा० १० उ० ५५ के '**कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना। देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत॥**' (१) **स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः। प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः॥**' (२) अर्थात् वासुदेवके अंश कामदेवने रुद्रद्वारा भस्म किये जानेपर पुनः शरीरप्राप्तिके लिये वासुदेवहीका आश्रय लिया। वह कामदेव ही भगवान् कृष्णके वीर्यद्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे उत्पन्न हुआ।—इस उद्धरणसे प्रद्युम्नजीका ही रतिपति होना स्पष्ट है।

नोट—३ (क) *'होइहि पति तोरा'* का भाव कि तब तेरा पति अनङ्ग न रहेगा, सदेह होकर तुझको पतिसुख देगा। (ख) *'बचनु अन्यथा होइ न मोरा'* इति। **अन्यथा**=व्यर्थ, असत्य, निष्फल। शिवजी न भी कहते तब भी वचन झूठा नहीं हो सकता था। यह जो कहा वह केवल उसके विश्वास और परितोषके लिये। ऐसे ही श्रीरामजीके वचन श्रीमनुशतरूपाजी-प्रति और भुशुण्डि-प्रति हैं—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा। पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥'* (१५२) *'पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥······भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय*

असि मम बानी॥' (७। ८६) इसी तरह नारदप्रति भगवान्‌के वचन हैं—*'जेहि बिधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥'* (१३२) इत्यादि। (खर्रा)

नोट—४ (क) *'रति गवनी सुनि संकर बानी'* इति। श्रीशङ्करजीकी वाणी अर्थात् कल्याणकारी कथाकी इति यहाँ लगायी। *'रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई'* उपक्रम और *'रति गवनी सुनि संकर बानी'* उपसंहार है। रतिको सद्यः पतिकी प्राप्ति नहीं हुई, अतः वह हर्षित नहीं है और दूसरे युगमें मिलनेकी ध्रुव आशा है, इससे उसे विषाद भी नहीं है। अतः हर्ष-विषाद कुछ न कहकर *'रति गवनी'* मात्र कहा गया। *'अबला निरखि बोले सही'* और *'रति गवनी'* के बीचमें शङ्करवाणी है। ☞ मदन-दहन-प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ। यह सब कथा श्रीशम्भुचरितके अन्तर्गत है, जो *'सुनहु संभु कर चरित सुहावा'* (७५। ६) पर प्रारम्भ हुआ था। (ख) *'कथा अपर अब कहौं बखानी।'* यहाँसे अब पार्वती-विवाहकी कथा प्रारम्भ होती है। *'अपर'* अर्थात् शिवसमाधि, मदनदहन और रतिवरदानकी कथा कही, अब दूसरी कथा कहते हैं।

श्रीशम्भुचरितान्तर्गत मदन-दहन-प्रसङ्ग समाप्त हुआ।

(शम्भुचरितान्तर्गत)

उमा-शम्भु-विवाह-प्रसङ्ग

देवन्ह समाचार सब पाए। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाए॥ ४॥
सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता॥ ५॥

अर्थ—देवताओंने सब समाचार पाये। ब्रह्मा आदि (सब देवता) वैकुण्ठको चले॥ ४॥ (वहाँसे) विष्णु और ब्रह्माजीसहित सब देवता जहाँ कृपाके धाम श्रीशिवजी थे, वहाँ गये॥ ५॥

नोट—१ *'देवन्ह समाचार सब पाए'* इति। नारदजीने रतिको मदनदहनकी सूचना दी, फिर उसको वरदान होते ही उन्होंने देवताओं और ब्रह्माजीको खबर दी। ब्रह्माजीने कहा ही था कि शङ्करजीकी समाधि छूटनेपर हम जाकर उनका जबरदस्ती विवाह करवायेंगे; अतः देवता तुरंत ब्रह्माजीके पास समाचार पाते ही पहुँचे। अथवा कामदेवको शिवजीके पास भेजकर वे ब्रह्मलोक वा ब्रह्माजीकी कचहरीमें ही बने रहे, अपने-अपने स्थानको लौट न गये थे, इसीसे *'तब बिरंचि पहिं जाइ पुकारे'* कहकर वहाँसे उनका लौटना नहीं कहा। यथा—*'एहि बिधि भलेहि देवहित होई। मति अति नीक कहै सबु कोई॥'* यह कहकर वक्ता *'अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू'* यह कहते हैं। अतः वहीं नारदजीसे समाचार मिलनेपर तुरत ब्रह्माजीको साथ लेकर वे वैकुण्ठ श्रीविष्णुभगवान्‌के पास गये। *'सब'* अर्थात् मदनका प्रभाव फैलाना, कोटि कलाएँ रचना, फिर स्वयं पञ्चबाण चलाना, त्रिनेत्रका उसे भस्म करना और रतिको वरदान देना, यह सब समाचार।

नोट—२ *'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता'* से जनाया कि भगवान् विष्णुको साथ लेनेके लिये वैकुण्ठ गये थे। ☞स्मरण रहे कि अन्यत्र भी लिखा गया है कि विधि, हरि, हर—ये त्रिदेव जगत्‌के कार्यके लिये एक-पादविभूतिमें रहते हैं। जिसके द्वारा जो कार्य होनेको होता है उसके पास अन्य दो जाते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। उसी तरह यहाँ भी ये दोनों शिवजीके पास गये। त्रिपाठीजीका मत है कि बरिआई विवाह कराना है और विष्णुपर शिवजीकी बड़ी प्रीति है, इनको ले चलनेसे शिवजीपर अधिक दबाव पड़ेगा। इसलिये सब वैकुण्ठको गये।

नोट—३ *'गए जहाँ सिव कृपानिकेता'* इति। अभी कृपा करके रतिको वरदान दिया ही है, यथा—*'प्रभु आसुतोष कृपाल सिव……।'* अतः 'कृपानिकेत' विशेषण दिया। पुनः भाव कि देवताओंने क़ामको विघ्न करने भेजा तब भी इनपर रुष्ट न होकर कृपा ही करेंगे, इनकी प्रार्थना स्वीकारकर सबका दुःख हरेंगे, यह जनानेके लिये प्रारम्भमें ही यह विशेषण बीजरूपसे दिया।

पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥ ६॥
बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू॥ ७॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगतिबस बिनवौं स्वामी॥ ८॥

अर्थ—उन सबोंने अलग-अलग शिवजीकी स्तुति की। चन्द्रशेखर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए॥ ६॥ दयासागर धर्मकी ध्वजा शिवजी बोले—'हे देवताओ! कहिये, आप किसलिये (कैसे) आये?॥ ७॥ ब्रह्माजीने कहा—हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं (सबके हृदयकी जानते ही हैं), तथापि हे स्वामी! भक्तिवश मैं आपसे विनती करता हूँ॥ ८॥

नोट—१ '*पृथक पृथक*……' इति। (क) सब स्वार्थके लिये आये हैं, अर्थार्थी हैं और आर्त्त भी हैं; इसीसे सबने अलग-अलग स्तुति की, जिसमें शिवजी प्रसन्न हो जायँ। (ख) '***भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा***' इति। ***अवतंस***=टीका, भूषण, शिरोभूषण। '***चंद्र अवतंसा***'=चन्द्रमा जिनका शिरोभूषण है=चन्द्रशेखर। 'चंद्र-अवतंस' विशेषणका भाव—(१) क्षीण, हीन, दीन, दुर्बलको आश्रय देनेवाले हैं। देवता लोग इस समय अपने लोकोंसे निकाले हुए, यज्ञभागसे वञ्चित क्षीण, दुर्बल तथा ऐश्वर्यके छिन जानेसे, '***सुख संपति रीते***' हो जानेसे दीन और दुःखित हैं; उनके भी आश्रयदाता होंगे। (२) चन्द्रमाको आश्रय देकर जगत्पूज्य बना दिया, वैसे ही देवगणकी रक्षाका उपाय करके उनको फिरसे ऐश्वर्यसम्पन्न करके उनकी प्रतिष्ठा स्थापित कर देंगे। (३) चन्द्रमा गुरुद्रोही और वक्र है और देवताओंने भी स्वार्थवश जगद्गुरु शंकरजीका अपराध किया, तो भी जैसे चन्द्रमाको अपनाया वैसे ही इनको अपनायँगे। (४) चन्द्रमा शरदातपको हरता है, वैसे ही शिवजी देवताओंके संतापको हरेंगे। (५) दक्षने चन्द्रमाको शाप दिया, उसी दक्षने सतीजीका अपमान किया। जैसे दक्षसे त्रासित चन्द्रमाको आपने ग्रहण किया वैसे ही दक्षसे अपमानित सतीको जो अब पार्वतीरूपमें हैं आप स्वीकार करेंगे।

नोट—२ यहाँ पंजाबीजीने यह शंका की है कि 'देवताओंमें भगवान् विष्णु और ब्रह्माजी भी थे। इनको शिवजीने न प्रणाम ही किया और न अभ्युत्थानका शिष्टाचार किया। यह क्यों?' और इसका समाधान यह किया गया है कि शिवजीके उपास्यदेव श्रीरघुनाथजी हैं, उनको छोड़ वह और किसीको बड़ा नहीं मानते; यथा—'***रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥***' (११६) परन्तु (भा० ४। ६। ४०) '**स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः। उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दनमर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः॥**' (अर्थात् सुरेश तथा असुरेशोंसे भी वन्दित शंकरजीने ब्रह्माजीको आया हुआ देख इस तरह सिर झुकाकर और उठकर प्रणाम किया, जैसे भगवान् विष्णु वामनरूपसे कश्यपजीके पुत्र होनेसे कश्यपजीको प्रणाम करते हैं)। एवं (भा० ४। ७। २२) '**प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः॥**' (अर्थात् दक्षयज्ञशालामें भगवान् विष्णुको आये हुए देख ब्रह्मा, इन्द्र, शिवजी आदिने उठकर उनको प्रणाम किया।), इन प्रामाणिक वाक्योंसे विरोध पड़ता है। इनमें शिवजीका ब्रह्माजीका एवं भगवान्‌का प्रणाम करना स्पष्ट कहा है। इसका समाधान (८८। ५) के नोट २ में भी कुछ लिखा जा चुका है।

विविध पुराणोंके देखनेसे प्रत्येक पक्षपातरहित मनुष्य इस सिद्धान्तपर पहुँचेगा कि विष्णु, शंकर और ब्रह्मा तीनोंहीके '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' '***नित्यविज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप सर्वव्यापी***' 'सगुण एवं निराकाररूप' और 'ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये रूप सिद्ध होते हैं। विष्णुपुराणमें श्रीपराशरजी भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एक रूप, सर्वविजयी, हरि, हिरण्यगर्भ, शंकर, वासुदेव आदि नामोंसे प्रसिद्ध, संसारतारक, विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण, एक और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म, उभयात्मक व्यक्ताव्यक्त स्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको मेरा बारम्बार नमस्कार है। इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाश करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशके भी मूल कारण,

जगन्मय उस सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म सर्वभूतोंके अंदर रहनेवाले, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा प्रणाम है। (वि० पु० १। २। १५)

(भा० ४। ७। ५१—५४) में श्रीमन्नारायण-वाक्य हैं कि मैं ही सृष्टि, पालन और संहार कृत्योंके अनुकूल ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप धारण करता हूँ। इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें देवीपुराण (८३। १३—१६) में कहा गया है कि 'उत्तम बुद्धिवाले, व्यक्ताव्यक्तरूप, त्रिगुणमय, सबके कारण, विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारकारक ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग! आप रजोगुणसे आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

(भा० ८। ७। ७—४५) में कालकूटसे जलते हुए देव-दानवगण जब शंकरजीके पास गये तब प्रजापतियोंने शंकरजीकी स्तुति करते हुए ऐसा ही कहा है। जैसे श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌का वाक्य है कि '**अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्॥**' यथार्थमें हम तीनों एक हैं। वैसे ही शिवपुराणमें शिववाक्य है '**त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्माविष्णुहराख्यया। एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥**' लिंगपुराणमें कई अद्भुत कथाएँ ऐसी हैं जिनसे देवताओंमें श्रेष्ठ विष्णु और ब्रह्मासे भी शिवका उत्कर्ष दिखाया गया है। लिंगपुराणमें जिस प्रकार शिवजीको परब्रह्म परमात्मस्वरूप माना है उसी प्रकार अन्य पुराणोंमें विष्णु आदिको सर्वशक्तिमान् माना है, परंतु सर्वशक्तिमान् परमेश्वरस्वरूप है एक ही व्यक्ति, किसी भी पुराणमें परमेश्वरकी शक्तिका भागीदार नहीं मिलता। पूर्ण पुरुषकी ही भिन्न-भिन्न नामोंसे वन्दना की गयी है। हिंदू-विचारोंका अद्भुत ऐक्य ही हिंदूधर्मकी महान् विशेषता है।

शिवपुराणमें कहा गया है कि 'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) एक-दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक-दूसरेको धारण करते हैं और एक-दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्माकी प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवकी। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य इस प्रकार एक-दूसरेकी अपेक्षा अधिक कहा है, मानो वे अनेक हों।'

वैसे ही यहाँ कहा है कि *'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता॥ पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥'* इस सम्बन्धसे शिवजीकी अतिशय प्रशंसा 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार है।

उपर्युक्त वाक्योंसे यह स्पष्ट है कि वस्तुतः एक ही ब्रह्म सृष्टि-कार्यनिमित्त तीन रूप धारण करता है। तीनोंमें गुणजन्यभेद होनेपर भी वास्तविक अभेद है। इसकी पुष्टि विष्णुपुराणके '**सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥**' एक ही भगवान् सृजन, रक्षण और हरणरूप कार्य करनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामोंको प्राप्त होते हैं। नाम-रूपका भेद है, परंतु वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है।

जब जिसके द्वारा सृष्टि-रक्षा आदिका कार्य होनेको होता है तब उसके पास शेष दो रूप देवगणसहित जाते हैं और उसकी स्तुति करते हुए उसको जगत्-मात्रका स्वामी, स्रष्टा, उद्भवस्थितिसंहारकर्त्ता और अपनेको उनका सेवक कहते हैं। वास्तवमें तीनों एक ही तत्त्व हैं, अभेद हैं। तब कौन किसका वन्द्य कहा जाय? वे परस्पर एक-दूसरेसे वन्द्य हैं।

रह गया यह कि यहाँ प्रणामादि क्यों न किये गये। इसका कारण तो यही जान पड़ता है कि ब्रह्माजीके वचन भी सत्य करने हैं। उन्होंने कहा था कि *'तब हम जाइ सिवहि सिरु नाई।……'*। इसीलिये ब्रह्माजीका स्तुति आदि करना लिखा गया और शिवजीका उनको प्रणाम करना नहीं कहा गया। यहाँ ब्रह्माजी सेवकभाव लेकर आये हैं, यह *'सिरु नाई'* एवं *'कह बिधि तुम्ह प्रभु'* से स्पष्ट है। तब शिवजी प्रणाम कैसे करते? वास्तवमें कोई किसीसे न्यूनाधिक नहीं है। ब्रह्माजी परपितामह हैं, आगे समधी बनकर बारातमें जायँगे। भगवान्‌के व्यंग्य वचन सुन-सुनकर शिवजी हँसते देखे जाते हैं, क्योंकि हरि और उनके

वचन दोनों ही शिवजीको प्रिय हैं। यथा—*'मनही मन महेस मुसुकाहीं। हरिके ब्यंग्य बचन नहिं जाहीं॥ अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।'* (९३)

नोट—३ (क) *'बोले कृपासिंधु बृषकेतू।......'* इति। कृपाके समुद्र हैं, असीम कृपा करेंगे। वृष (बैल, धर्म) आपकी पताकापर है। उपकार परम धर्म है, यथा—*'श्रुति कह परम धर्म उपकारा।'* इस तरह (=वृषकेतु परोपकाररूपी परम धर्म)। आपकी पताकापर है। भाव कि आप परोपकारकी पताका बाँधे वा फहरा रहे हैं। कृपा की और परोपकार करेंगे। (खर्रा) पुनः भाव कि धर्मध्वज हैं। अतः धर्मकी, वेदमर्यादाकी रक्षा अवश्य करेंगे। (ख) *'कहहु अमर आए केहि हेतू'* इति। *'अमर'* सम्बोधनसे ही अभयदान दे रहे हैं, जैसे श्रीरघुनाथजीने विभीषणको *'लंकेस'* कहकर सम्बोधन किया था। *'कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी।......'* यह *'कहहु अमर आए केहि हेतू'* का उत्तर है। (ग) *'तदपि भगतिबस बिनवौं......।'* भाव कि जिस लिये हम आये हैं सो तो आप जानते ही हैं तो भी भक्तिभावके अनुसार अन्तर्यामीसे कहा ही जाता है, यह भक्तिकी रीति है, स्वामी जानते हुए पूछते हैं और भक्त कहता है। जैसे मनुजीसे माँगनेको कहा गया तब उन्होंने कहा कि *'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥'* उसपर भगवान्‌ने कहा—*'सकुच बिहाइ मागु नृप मोही।'* (१४९) तब उन्होंने माँगा। यह भक्तिकी रीति है। मिलान कीजिये—*'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीतिकी रीति सुहाई।'* यही भाव *'भगति बस'* का है।

दोहा—सकल सुरन्ह कें हृदय अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहि नाथ तुम्हार बिबाहु॥८८॥

अर्थ—१ हे श्रीशङ्करजी! हे नाथ! समस्त देवताओंके हृदयमें ऐसा परम उत्साह है (कि) अपनी आँखोंसे आपका ब्याह देखना चाहते हैं॥८८॥

अर्थ—२ हे नाथ! कल्याणकारी मङ्गलोत्सव आपका ब्याह अपनी आँखोंसे देखना चाहते हैं।—ऐसा सब देवताओंके हृदयमें है॥८८॥

नोट—१ *'सकल सुरन्ह कें हृदय अस।'* भाव कि यह उनके हृदयकी बात है जो वे प्रकट नहीं कह सकते थे, आप 'अन्तर्यामी' हैं, जानते ही हैं, वही मैंने आज्ञानुसार प्रकट कह सुनाया। *'निज नयनन्हि देखा चहहिं'* इन वचनोंमें भी संकोच भरा हुआ है। संकोच न होता तो कहते कि *'निज नयनन्हि देखहिं'* हम सब देवता आपका विवाह देखें। देवता संकोचवश हैं, इसीसे उन्होंने स्वयं न कहा, विधिने उनकी चाह अपनी ओरसे कही। (पं० रा० कु०) पुनः *'सकल सुरन्ह'* का भाव कि मैंने तो पहिला ब्याह जो सतीके साथ हुआ था उसे देखा है। पर उस मन्वन्तरके देवता अब रहे नहीं, साथके सब देवता इस मन्वन्तरके हैं, इन्होंने आपके ब्याहकी कथा केवल सुनी है। अतः ये लोग अपनी आँखोंसे देखना चाहते हैं। (वि० त्रि०) उछाहु=मङ्गल, आनन्द, उत्साह, उत्कण्ठा। यथा—*'तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु,'* *'प्रभु बिबाह जस भएहु उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥'* *'रामरूपु भूपति भगति ब्याहु उछाहु अनंदु। जात सराहत मनहिं मन मुदित गाधिकुलचंदु॥'*

यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन मद मोचन॥१॥
कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा॥२॥
सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥३॥

शब्दार्थ—पसाऊ (सं० प्रसाद, प्रा० पसाव)=प्रसाद, कृपा, अनुग्रह। यथा—*'चारिउ कुँवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ। भए मंजु मंगल सगुन गुरु-सुर संभु-पसाउ॥'* (श्रीरामाज्ञाप्रश्न ३८)

अर्थ—हे कामदेवके मदको छुड़ानेवाले! वही (ऐसा ही) कुछ कीजिये कि सब लोग यह उत्सव नेत्र भरकर देखें॥१॥ 'कामदेवको जलाकर रतिको वरदान दिया', हे दयासागर! यह आपने बहुत ही

अच्छा किया॥ २॥ हे नाथ! समर्थ स्वामियोंका यह सहज (जन्मका) स्वभाव ही है कि वे दण्ड देकर फिर अनुग्रह किया करते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'यह उत्सव देखिअ……'* इति। (क) पूर्व कहा कि *'निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु'* और यहाँ *'यह उत्सव……'* फिर कहकर जनाया कि विवाह देखनेकी बड़ी लालसा है, भारी उत्कण्ठा है। ☞ जो विषय अत्यन्त प्रिय होता है, उसके थोड़े सेवनसे तृप्ति नहीं होती, इन्द्रियोंको उसके भरपूर भोगनेकी इच्छा होती है, इसीसे *'भरि लोचन'* देखनेको कहा। (ख) ☞ जहाँ-जहाँ दर्शनकी भारी उत्कण्ठा देखी जाती है वहाँ-वहाँ कविने *'भरि लोचन'* देखना कहा है। यथा—

उत्कण्ठा	दर्शन
'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।	*१ भरि लोचन*
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची।' (४८)	*छबिसिंधु निहारी*
'रामचरनबारिज जब देखौं। तब निज जनम सुफल करि लेखौं'	*२ निज प्रभु बदनु निहारि*
'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं…… ।' (७। ११०। ११)	*निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥*

३—*'मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि॥'*

४—*'सबके उर……कबहिं देखिबे नयन भरि रामलखन दोउ बीर।'* (१। ३००)

पुनः, (ग)—*'भरि लोचन'* अर्थात् जी भरकर देखनेका भाव कि सब तारकासुरसे सताये हुए हैं, शीघ्र विवाह हो जाय जिसमें हम सब बारातमें जाकर जी भरकर आनन्द लूटें, नहीं तो यदि उसने हमें सता ही लिया, कैद कर लिया या ऐसा कोई कड़ा दण्ड दिया कि हम विवाहमें न जा सकें, तो फिर ब्याह कौन और कैसे देखेगा? जीकी लालसा जीहीमें रह जायगी। (घ) *'सोइ कछु करहु'* अर्थात् जिससे भी कार्य बने वही कीजिये, हम और कुछ नहीं कहते। (ङ) *'मदन मद मोचन'* सम्बोधन देकर देवता सूचित करते हैं कि हम जो विवाह करनेकी प्रार्थना करते हैं वह कुछ इसलिये नहीं कि आपकी तृप्ति होगी; क्योंकि आप तो कामके मदको मर्दन करनेवाले हैं, आपने तो कामको जला ही डाला; किन्तु इससे कहते हैं कि देवताओंका सङ्कट दूर हो। आप अपने सुखके लिये विवाह न करें सही, किन्तु हमारे हेतु करें, हमें विवाह देखनेका सुख दें। भक्तोंकी रुचि रखनेके लिये विवाह कीजिये। (रा० प्र०; वै०)

नोट—२ *'काम जारि……'* इति। (क) यह मानवप्रकृति है। जिसको प्रसन्न करना होता है उसके किये हुए कार्यकी प्रथम प्रशंसा की जाती। वैसा ही यहाँ देखा जाता है। (ख) *'सासतिं करि पुनि……'* इति। इस अर्धालीको अर्धाली २ *'काम जारि……'* और अर्धाली ४ *'पारबती तपु कीन्ह……'* के बीचमें दीपदेहलीन्यायसे रखकर जनाया कि यह आगे-पीछे दोनों अर्धालियोंके साथ है। कामको दण्ड दिया फिर रतिपर करुणा करके प्रसन्न हो वरदान देकर कामदेवपर अनुग्रह भी किया। ब्रह्माजी गुप्त रीतिसे दरसाते हैं कि इसी प्रकारसे सतीजीने सतीतनमें आपकी अवज्ञा की, इष्टका अपमान किया, झूठ बोलीं, इत्यादि अपराध किये। उसका दण्ड अबतक उनको बहुत मिल चुका। आप स्वामियोंके सहज स्वभावको जानते ही हैं। अपने उस प्रभुत्वके सहज स्वभावसे अब उसपर भी कृपा कीजिये। (ग) *'कृपासिंधु……'* इति। अर्थात् दयानिधान लोगोंको जैसा चाहिये वैसा ही आपने किया। इससे सृष्टिका कार्य न बिगड़ेगा। (घ) *'नाथ प्रभुन्ह कर……'* इति। यथा—'**नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥**' (भा० ४। ७। २) यह वाक्य शिवजीका दक्षके सम्बन्धमें है कि दक्ष-जैसे बाल-बुद्धिवालोंके अपराधको न मैं कहता हूँ और न स्मरण ही करता हूँ। केवल सावधान करनेके लिये थोड़ा दण्ड दे दिया है। श्रुतिसेतुकी रक्षाके लिये दण्ड देना आवश्यक है। यथा—*'जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।'* (७। १०७। ४)

पारबतीं तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अङ्गीकारा॥४॥
सुनि बिधि बिनय* समुझि प्रभु बानी। ऐसेइ होउ कहा सुखु मानी॥५॥

अर्थ—पार्वतीने भारी तप किया है, अब उसे (वा उसके तपको) अङ्गीकार कीजिये॥४॥ ब्रह्माजीकी विनती सुनकर और प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका वचन याद करके शिवजीने आनन्द एवं प्रसन्नतापूर्वक कहा कि 'ऐसा ही हो'॥५॥

नोट—१ (क) *'तप कीन्ह अपारा'* कहनेका भाव कि उग्र तपस्या करके वे अब शुद्ध हो गयी हैं और यह तप भी आपके लिये ही किया है। *'अपारा'* कहा क्योंकि ऐसा तप किसीने नहीं किया; यथा—*'अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी॥'* (ख) *'करहु तासु अब अङ्गीकारा'* इति। भाव कि आप पति हों, इसीलिये यह अपार तप किया गया। आप तप करनेवालेको उसका फल दिया करते हैं, अतः उसके तपको सुफल कीजिये, उसका मनोरथ पूरा कीजिये। अङ्गीकार=स्वीकार।=ग्रहण।

नोट—२ (क) *'सुनि बिधि......'* इति। भाव कि *'बिधि'* की विनय है, अतः *'बिधि'* ही है, करनी ही चाहिये। उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है। *'प्रभु बानी'* है, अर्थात् स्वामी (श्रीरामजी) की आज्ञा है सो भी भङ्ग करने योग्य नहीं। अतः दोनों माननीय हैं, कर्तव्य हैं। *'बिधि बिनय'*—*'कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी'* (८८। ८) से यहाँ *'करहु तासु अब अङ्गीकारा'* तक है। और *'प्रभु बानी'* (दोहा ७६) *'जाइ बिबाहहु सैलजहिं......' 'अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।'* है। (ख) प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके वचन अकेले ही इस कार्यके लिये काफी थे, तो भी साथ-ही-साथ एक कारण यहाँ ब्रह्माजीकी प्रार्थना और भी उपस्थित हो गया; इस प्रकार यहाँ 'द्वितीय समुच्चय' अलङ्कार हुआ। यथा—*'एक काजके करनको हेतु जु होयँ अनेक। ताहि समुच्चय दूसरो बरनैं कवि सविवेक॥'*—(अ० मं०)

तब देवन्ह दुंदुभीं बजाईं। बरषि सुमन जय जय सुरसाईं॥६॥
अवसरु जानि सप्तरिषि आए। तुरतहि बिधि† गिरिभवन पठाए॥७॥

अर्थ—तब देवताओंने नगाड़े बजाये और फूलोंकी वर्षा कर-करके *'जय जय सुरसाईं'* (हे देवताओंके स्वामी! आपकी जय हो! जय हो!!) ऐसा कहने लगे॥६॥ उचित समय जानकर सप्तर्षि आये। ब्रह्माजीने तुरन्त ही उनको हिमाचलके घर भेजा॥७॥

नोट—१ *'तब देवन्ह......'* (क) *'तब'* अर्थात् जब शङ्करजीने कह दिया कि *'ऐसेइ होइ'* तब। इससे जनाया कि पहले सन्देह था कि पार्वतीको अङ्गीकार करेंगे या नहीं, जैसा कि ब्रह्माजीने उनसे कहा था; यथा—*'जदपि अहइ असमंजस भारी'* एवं *'एहि बिधि भलेहि देवहित होई।'* *'भलेहि'* सन्देहवाचक है। (ख) *'दुंदुभीं बजाईं'* इससे अपना हर्ष सूचित किया। दुन्दुभी एक वचन है, *'दुंदुभीं'* बहुवचन है। अनुस्वार बहुवचनका चिह्न है। 'नदी' का बहुवचन 'नदीं'; यथा—*'नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं'* और 'तलाई' का बहुवचन 'तलाईं' है; यथा—*'संगम करहिं तलाव तलाईं'* (८५) जैसे नगाड़े बजाना हर्षका सूचक है वैसे ही *'बरषि सुमन......'* भी हर्षके ही कारण हो रहा है। यथा—धनुषके टूटनेपर *'पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। ...... सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा।'* (२६५), और फिर विवाह हो जानेपर—*'सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान।'* (३२४) इसी तरह शिव-पार्वती-विवाह हो जानेपर *'हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥ ......जय जय जय संकर सुर करहीं॥ बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमन बृष्टि नभ भइ बिधि नाना॥'* (१०१)—देवता लोग स्वार्थकी सिद्धि देखकर इस प्रकार अपना हर्ष प्रकट किया करते हैं। (ग) *'सुरसाईं'* कहा क्योंकि पार्वतीजीको ग्रहण करनेसे देवताओंकी रक्षा होगी। स्वामी सेवककी रक्षा करता ही है।

* बचन—१७०४। बिनय—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

† हिमि— १७०४। बिधि—अन्य सबोंमें।

नोट—२ (क) *'अवसर जानि······'* इति। शिवजीने पार्वतीजीको ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है, ब्रह्मादि देवता अभी वहीं उपस्थित हैं; बस, तुरन्त इसी समय लग्न निश्चित कर बारात सजा ली जाय, फिर कहीं समाधि आदिकी शङ्का न रह जाय। उचित अवसरपर काम करनेसे सराहना और सफलता होती है। ***'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिये उदय कहा भरि पाख॥'*** (दोहावली ३४४) इससे जनाया कि सप्तर्षियोंको बड़ी लालसा है कि इस महामङ्गलमें हम भी किसी प्रकारसे निमित्त बनें। अब अवसर आया है कि ब्राह्मण लग्नपत्रिका लिखानेके लिये भेजा जाय; अत: सप्तर्षि स्वयं पहुँच गये। (ख)*'तुरतहि बिधि गिरि भवन पठाए।'*—इससे जनाया कि सब चाहते हैं कि तुरत ही विवाह हो जावे। ब्रह्माजीको अभी सब घेरे हुए हैं, इसीसे उन्होंने कार्यमें शीघ्रता की जिसमें सबको सन्तोष हो। (ग) *'गिरिभवन पठाए'*—उनको समाचार देने और मुहूर्त ठीककर लग्नपत्रिका लानेको भेजा। यथा— ***'सबु प्रसंग गिरिपतिहि सुनावा। सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई॥ पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही॥'*** (९१) ***'जाहु हिमाचल गेहु प्रसंग चलाएहु। जौं मन मान तुम्हार तौ लगन लिखाएहु॥ अरुंधती मिलि मैनहि बात चलाइहि। नारि कुसल इह काजु आजु बनि आइहि॥ दुलहिनि उमा ईस बरु साधक ए मुनि। बनिहि अवसि एहु काजु······॥'*** (पार्वतीमङ्गल ४८-४९)—ये सब भाव यहाँ ले सकते हैं।

प्रथम गए जहँ रहीं भवानी। बोले मधुर बचन छल सानी॥८॥

दोहा—कहा हमार न सुनेहु* तब नारद कें† उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस॥८९॥

अर्थ—वे पहले वहाँ गये जहाँ भवानीजी थीं और कपटभरे मीठे वचन बोले॥८॥ नारदके उपदेशसे तुमने उस समय हमारी बात न सुनी (कहा न माना)। अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हो गया (क्योंकि) महादेवजीने (तो) कामको जला डाला॥८९॥

नोट—१ *'प्रथम गए जहँ रहीं······'* इति। (क) इससे जनाया कि पार्वतीके रहनेका घर अलग था, जैसे जनकपुरमें श्रीजानकीजीका महल अलग था।—***'सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाइ॥'*** (२१३) प्रथम इनके पास क्यों गये? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर रामायणी लोग यह देते हैं कि 'जब पहले गये थे तब वे अनशनव्रत कर रही थीं। उस समय बुद्धि और होती है और अब घरमें राजसी ऐश्वर्य भोग रही हैं। अत: देखना चाहते हैं कि अब कैसी वृत्ति है। वा छेड़कर उनके मुखारविन्दसे कुछ और भी सुनना चाहते हैं। (अर्थात् विनोदार्थ वहाँ गये; कौतुकी हैं ही, यथा—***'तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं॥'*** (८१) ☞पं० रामकुमारजीका मत है कि प्रथम बार उत्तर न सूझा था, अब उत्तरकी जगह मिल गयी है। अत: गये कि देखें अब क्या कहती हैं। यह समाधान विशेष संगत है। विशेष दोहा ९० में देखिये। (ख) ***'बोले मधुर बचन छल सानी'*** इति। कपटी छली लोग मधुर बोलते ही हैं, जिसमें उनका कपट चल जाय; यथा—***'कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत॥'*** (१। १६०) (कपटी मुनि), ***'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली॥'*** (२। १७) (मन्थरा)। कपटी मुनि और मन्थरा तो भीतरसे कपटी थे पर यहाँ यह बात नहीं है। ये उदाहरण एकदेशीय-मात्र समझे जायँ। यहाँ *'छल सानी'* कहकर जनाते हैं कि सप्तर्षियोंका हृदय शुद्ध है, उनके वचनमात्रमें ही छल है, भीतर तो पूज्य भाव है, ऊपरसे दिखावमात्रके ऐसे वचन हैं। विनोदयुक्त हैं। (खर्रा) पुन:, छल साने हुए वचन प्राय: इसलिये मीठी वाणीसे बोले जाते हैं कि जिसमें जिसको छेड़ा जाता है उसको बुरा भी न लगे, मनोरञ्जन हो, उसे क्रोध न आवे; नहीं तो विनोदका मजा ही चला जाय। (भावोपहत न होनेसे यहाँ छलयुक्त वचन भी प्रशस्त है।)

* सुनहु—१६६१। सुनेहु—औरोंमें। † कर—१७०४। कें—१६६१। के—औरोंमें।

नोट—२ *'कहा हमार न सुनेहु तब नारद कें उपदेसु'* यथा—*'तजौं न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू'* *'जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहउँ कुँआरी॥'* *'अब भा झूठ तुम्हार पन'* अर्थात् यह काम अब तो अविवेकका साबित हुआ। जब कामदेवको जला दिया तो अब ब्याह करके क्या करेंगे? और तुम्हें पतिका सुख ही क्या होगा? पाँडेजी *'अब भा झूठ'* को देहरीदीपक मानकर अर्थ करते हैं कि 'नारदका उपदेश और तुम्हारा प्रण दोनों झूठे हुए।'

नोट—३ (क) *'जारेउ काम महेसु।'* कामको जलानेमें *'महेस'* नाम दिया। भाव कि ये महान् समर्थ हैं, इससे इन्होंने कामको भस्म ही कर दिया, नहीं तो उसे भस्म करना तो दूर रहा, जीतनेको भी कोई समर्थ नहीं है। यथा—*'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥'* (२५७) *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥'* (२। २५) अब तो कुँआरी ही रहो या हमारे बताये वरको ब्याहो। (ख) परीक्षा बड़े गज़बकी थी और व्यंग्यका माधुर्य तो स्पष्ट है ही। (लमगोड़ाजी)

वि० त्रि०—भाव यह है कि कन्यादान अथवा प्रतिग्रहमें कामकी ही प्रधानता है। मन्त्र पढ़ा जाता है—**'कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते।'** (अर्थात् किसने दिया? किसको दिया? कामको दिया। हे काम! यह सब तेरे लिये है।) जब काम ही नहीं तब विवाह क्या? पुत्र-प्रयोजना भार्या।

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥ १॥
तुम्हरे जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥ २॥

शब्दार्थ—**'सबिकारा'**=विकारयुक्त। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये षड्विकार माने गये हैं। इनमेंसे यहाँ 'काम'-विकारसे ही तात्पर्य है। अर्थात् कामी हैं।

अर्थ—यह सुनकर भवानी मुस्कुराकर बोलीं—हे विज्ञानी मुनीश्वरो! आपने यथार्थ (ठीक) ही कहा॥ १॥ आपकी समझमें शिवजीने अब कामको जलाया। अबतक वे कामी ही रहे॥ २॥

नोट—१ *'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी……।'* (क) मुस्कुरानेके भाव कि ज्ञानी और मुनिश्रेष्ठ होते हुए भी अज्ञानीके-से वचन कहे। (खर्रा) वा इस तरह उनके वचनका निरादर सूचित किया। एवं मुस्कुराकर जनाया कि क्या अभी भी आपका चित्त परीक्षासे नहीं भरा, फिर कुछ सुनना चाहते हैं?—(वै०) (ख) *'मुसुकाइ'* के साथ *'भवानी'* ऐश्वर्यसूचक पद दिया, नहीं तो राजकुमारीकी हैसियतसे ऋषियोंपर हँसना पाप है। यथा—*'सुनत बिहँसि कह बचन भवानी॥ सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा।'* (८०) (ग) *'उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी'* इति। 'विज्ञानी मुनीश्वरोंका ऐसा कहना योग्य ही है! शङ्करजीको काम विकारयुक्त जानना यही विज्ञानका स्वरूप है?'—यह व्यंग्य है। (रा० कु०) आप विज्ञानी हैं, बड़े हैं, तब क्या कहूँ? आपका कहना ठीक ही है। आप जो कहें उचित ही है। वीरकविजी लिखते हैं कि *'मुनिबर बिग्यानी'* में स्फुटगुणीभूत व्यंग है। विज्ञानी मुनियोंका अज्ञानीकी तरह बातें कहना बड़े आश्चर्यकी बात है। पाँडेजीका मत है कि **'विवाहके व्यवहारमें अपना देवर मानकर'** हँसकर बोलीं। बैजनाथजी भी लिखते हैं कि सप्तर्षि ब्रह्माजीके पुत्र हैं और रुद्र भी ब्रह्माजीसे उत्पन्न हैं, इस प्रकार ये शिवजीके छोटे भाई हुए। इधरके प्रान्तोंमें रीति है कि छोटा भाई भावज (बड़े भाईकी पत्नी) से हँसी करता है, उसीको यहाँ लक्ष्य करके श्रीपार्वतीजीने ये वचन कहे। अभिप्राय कि विज्ञानी होनेके कारण तुम सब जानते ही हो, तब अज्ञानियोंकी-सी बात कहनी उचित न थी। हाँ, इस नातेसे आपका कहना उचित ही है, नहीं तो अनुचित था। अन्य महानुभावोंके मतानुसार जब सप्तर्षि प्रथम बार आपको *'सकल जगत मातु'* (८१) एवं *'जगदंबिके भवानी'* कहकर प्रणाम कर चुके हैं तब उसके प्रतिकूल दूसरा अर्थ सङ्गत नहीं जान पड़ता।

नोट—२ (क) *'तुम्हरे जान कामु अब जारा……'* इति। इसमें अज्ञानपनको स्पष्ट कह दिया। *'अब जारा'* इस वचनसे ही शिवजीपर दोषारोपणकी झलक निकल रही है जो वे आगे कहती हैं और उनके

वचनोंका खण्डन भी इनमें ही है। अर्थात् शिवजी तो कामदेवको अनादिकालसे जलाये हुए हैं, कुछ अब नहीं जलाया। *'तुम्हरें जान कामु अब जारा'* यह सूत्र है—इसीकी व्याख्या आगेके तीन चरणोंमें है। (ख) *'हमरें जान सदा शिव जोगी……'* इति। सदाका अन्वय *'जोगी', 'अज'* इत्यादि सबके साथ है।

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—'मखौल कितना साफ है कि आपलोग ऋषि होते हुए भी असली रहस्य न समझ सके और शिवजीमें विकारकी सम्भावना कर ली। वक्तृताका आगामी अंश हमारे प्रसङ्गसे बाहर है……परन्तु इसमें प्रेमकी द्वन्द्वता और प्रतिज्ञाकी अटलता कूट-कूट भरी है और कामदेवके भस्म होनेका रहस्य भी खोल दिया गया है। यह भी प्रकट कर दिया गया है कि सच्चे प्रेमको अपने ऊपर विश्वास होता है, जैसा किसी उर्दू कविने कहा है *'कच्चे धागेसे चले आयेंगे सरकार बँधे।'* (हास्यरस)

हमरें जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ ३॥
जौं मैं शिव सेए अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी॥ ४॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥ ५॥

शब्दार्थ—**अनवद्य** (अन+अवद्य)=अनिन्द्य, निर्दोष। (श० सा०)—अवद्य=अधम, गर्ह्य, नीच। यथा—'**निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यावमाधमाः। कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः॥**' अनवद्य=उत्तम। **अभोगी**=जिसको स्त्री आदि समस्त भोगविषयोंकी इच्छा नहीं=अनित्य समस्त भोगविषयोंसे विरक्त वा उदासीन। भोग आठ प्रकारके हैं—शिरगन्ध, वनिता, वस्त्र, गीत, ताम्बूल, भोजन, भूषण और वाहन।

अर्थ—हमारी समझमें तो शिवजी सदासे ही योगी, अजन्मा, अनिन्द्य, निष्काम और भोगविषयोंसे विरक्त हैं॥ ३॥ यदि मैंने ऐसा जानकर शिवजीकी सेवा मन, कर्म, वचनसे प्रेमसहित की है॥ ४॥ तो हे मुनीश्वरो! सुनिये, दयाके निधान (सागर, भण्डार) 'ईश' हमारा प्रण सत्य करेंगे॥ ५॥

नोट—१ *'हमरें जान सदा शिव जोगी……'* इति। (क) *'सदा'* का अन्वय *'जोगी', 'अज'* इत्यादि सबके साथ है। (ख) यहाँ 'योगी' आदि पाँचों विशेषण बड़े महत्त्वके हैं। योगी हैं; यथा—*'नाम बामदेव दाहिनो सदा असंग-रंग अर्ध-अंग अंगना अनंगको महनु है।'* (क० ७। १६०) *'तुम्हरें जान'* की जोड़में यहाँ *'हमरें जान'* कहा। दोनोंकी *'जान'* का मिलान—

वहाँ—१ *तुम्हरें जान* २ *अब लगि* ३ *संभु रहे सबिरकारा।*

यहाँ—१ *हमरें जान* २ *सदा* ३ *शिव जोगी।*

'योगी' कामकी चाह नहीं करते। यथा—*'समुझि काम सुख सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी॥'* इनको कामसे वैर है, तब ये कामी कैसे हुए? पुनः, *'अज'* अर्थात् अजन्मा हैं। अजन्मा कहकर वासनारहित बताया, क्योंकि काम (वासना) से ही जन्म-मरण होता है और इनका जन्म नहीं होता; तब ये कामी कैसे हुए? अनवद्य हैं अर्थात् निर्विकार हैं तब इनमें विकार कैसे सम्भव है? *'अकाम'* अर्थात् स्त्रीविषयसे रहित हैं और अभोगी अर्थात् समस्त भोगविषयसे विरक्त हैं, विषयके पास भी नहीं जाते, विषय-भोग नहीं करते, तब कामी कैसे हो सकते हैं? ☞जो वासनासे रहित होता है, वही अकाम और अभोगी होता है और वही उत्तम कहा जाता है।

नोट—२ *'जौं मैं शिव सेए अस जानी।……'* इति। (क) *'अस'* अर्थात् योगी, अज, अनवद्य, अकाम और अभोगी। भाव कि स्त्री होते हुए भी मैं यह जानकर भी कि उनको स्त्रीकी चाह नहीं है, वे अकाम, अभोगी हैं, मैं उन्हींसे विवाह करना चाहती हूँ, मुझे भी विषयभोगकी इच्छा नहीं है। (ख) *'सेए……प्रीति समेत कर्म मन बानी'* इति। सेना=सेवा, उपासना या आराधना करना। *'केहि अवराधहु'* जो प्रथम बार सप्तर्षियोंने कहा था, वही *'अवराधन'* यहाँ 'सेवा' है। *'प्रीति समेत'* यथा—*'उर धरि उमा प्रानपति चरना।……', 'नित नव चरन उपज अनुरागा।……'*(७४) *'जेहिं कर मन रमु जाहि सन तेहि तेही सन काम॥'* (८०)*देखि प्रेम बोले मुनि ग्यानी।'* (८१)*'कर्म'* यथा—*'संबत सहस मूल फल खाए।'* (७४। ४) से लेकर (७४। ७) तक सारा तप।

मन, यथा—*'बिसरी देह तपहि मनु लागा।'* (७४। ३)*'उर धरि उमा प्रानपति चरना'*, *'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी।'''''''* (६८), *'उमा सो बचनु हृदय धरि राखा'* (६८), इत्यादि सब मनकी सेवा है। वाणीकी सेवा; यथा—*'बरौं संभु न त रहौं कुआरी।'*, *'तजौं न नारद कर उपदेसू।'* इत्यादि। ☞ शिवपुराणमें लिखा है कि नारदजीने पार्वतीजीको पञ्चाक्षरी शिवमन्त्र जपनेको बताया था। इसके अनुसार श्रीपार्वतीजी शिवमन्त्र बराबर जपती रहीं। यही उनकी वाचिक सेवा है। ☞ जप गुप्त रखना चाहिये, यथा—*'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ।'* (१। १६८) इसीसे ग्रन्थकारने भी स्पष्ट न लिखा था; उन्हींकी 'कहनी' लिख दी। जब पार्वतीजीने 'वाणी' से सेवा कही तब उससे नाम वा मन्त्रका जप सिद्ध हुआ।

नोट—३ *'तौ हमार पन सुनहु मुनीसा।'''''''* इति। (क) ठीक ऐसे ही वचन श्रीजानकीजीके हैं। दोनोंका मिलान—

श्रीपार्वतीजी	श्रीजानकीजी (दोहा २५९)
कर्म मन बानी	*१ तन मन बचन मोर पन साँचा,*
जौं मैं शिव सेए	*२ रघुपतिपदसरोज चितु राचा।*
तौ''''''कृपानिधि ईसा	*३ तौ भगवान सकल उर बासी,*
हमार पन''''''करिहहिं सत्य	*४ करिहि मोहि रघुबर कै दासी।*
प्रीति समेत, हमार पन	*५ प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना।*

(ख) *'हमार पन'* अर्थात् *'बरौं संभु न त रहौं कुआरी।'* शिवजीसे ही विवाह करूँगी, दूसरेसे नहीं। (ग) *'करिहहिं सत्य'* अर्थात् मेरा प्रण सत्य होगा, झूठ नहीं होनेका, भगवान् हमारी प्रतिज्ञाको अवश्य सत्य करेंगे। *'कृपानिधि'* का भाव कि ये दयासागर हैं, मुझपर अवश्य दया करेंगे, मुझे उनकी अहेतुकीय कृपाका भरोसा है। (घ) *'ईसा'* इति। ईशके दोनों अर्थ लग सकते हैं—एक तो परमेश्वर श्रीरामजी। यथा—*'जौं प्रभु दीनदयाल कहावा। तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु''''''॥'* ५९॥ सतीजीने इन्हीं सर्वदर्शी प्रभुका स्मरण आर्ति हरण करनेके लिये किया था और उन्हीं प्रभुने अबतक बराबर उनपर कृपा की है। इसीके जोड़में श्रीजानकीजीके वचन *'तौ भगवान सकल उर बासी'* हैं। अतः, ईश=श्रीरामजी। दूसरे, ईश=शंकरजी। (ङ) पुनः, 'ईश' का भाव कि वे समर्थ हैं, असम्भवको भी सम्भव कर देंगे। ४ ☞ यहाँतक सप्तर्षियोंके *'अब भा झूठ तुम्हार पन'* का उत्तर हुआ।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा॥ ६॥

अर्थ—आपने जो कहा कि महादेवजीने कामदेवको जला दिया, यही (आपका कथन) आपका अतिशय अज्ञान है॥ ६॥

नोट—१ *'हर जारेउ मारा'* इति। कामदेवका संहार करनेके सम्बन्धसे 'हर' नाम दिया। इससे यह भी जनाया कि ये संसारमात्रका संहार करनेवाले हैं, कामको भस्म करना कौन बड़ी बात है? अथवा, '**क्लेशं हरतीति हरः**' क्लेश हरण करनेके सम्बन्धसे 'हर' नाम दिया अर्थात् वह साधकों, योगियों और भक्तजनोंको क्लेश दे रहा था, अतः उसे जला डाला।

नोट -२ *'तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा।'''''''* इति। *'हर जारेउ मारा।'* अर्थात् आपके कथनसे यह आशय निकलता है कि अभीतक शिवजीको काम व्यापता था, अब न व्यापेगा। अथवा, कामका जलाना कहकर आप भगवान् शंकरपर दूसरोंको कष्ट देने या मारने आदिका दोष लगाते हैं। ये दोनों दोषारोपण अनुचित हैं। क्योंकि वे तो सदासे योगी, अज, अकाम, अनवद्य और अभोगी हैं। दूसरे वे किसीको क्यों मारने या जलाने लगे? वे तो राग-द्वेष-क्रोधादिसे परे हैं, अतः यह दोषारोपण भी अनुचित है।—इसीको आगे स्पष्ट दृष्टान्त देकर समझाती हैं और इसीसे उनको 'अविवेकी' कहती हैं।

नोट—३ *'सोइ'* अर्थात् *'हर जारेउ मारा'* वा *'जारेउ काम महेस'* यह कथन।

अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा

टिप्पणी—१ *'अति बड़ अबिबेकु '* से तीन तरहका अज्ञान पाया गया *'अबिबेकु '*, *'बड़ अबिबेकु '* और *'अति बड़ अबिबेकु '*। भवानीजीने उनमें तीनों बातें दिखायीं। *'तुम्हरें जान काम अब जारा'* यह अविवेक है अर्थात् इतना भी ज्ञान तुमको नहीं है कि वे तो सदासे योगी, अकाम और अभोगी, सदासे ही कामरहित हैं। ☞ यह भी न जानना अविवेक है। *'अब लगि संभु रहे सबिकारा'* अर्थात् शम्भुको षड्‌विकारयुक्त मानना, उनको कामी जानते रहे, यह *'बड़ अबिबेकु '* है। और, *'हर जारेउ मारा'* अर्थात् भगवान्‌में किसीको मारनेका दोष लगाना यह *'अति बड़ अबिबेकु '* है। *'हर जारेउ मारा'* इस कथनको सप्तर्षिका *'अति बड़ अबिबेकु '* कहा, क्योंकि इससे ईश्वरपर दूसरोंको मारने वा जलानेका दोष आरोपित होता है, वस्तुतः ईश्वर किसीका अनहित नहीं करते, वे किसीको नहीं मारते। पापी अपने पापसे मारे जाते हैं। यथा—*बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारग* गामी॥' (लं० १०९) *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥'* (२।९२) *'कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥'* (अ० २८२)।*'जीव करम बस सुख दुख भागी॥'* (२। ११)

श्रीमद्भागवत स्कं० ४ अ० ६में श्रीब्रह्माजीने शिवजीसे ऐसा ही कहा है।—'**त्वं कर्मणां मङ्गलं मङ्गलानां कर्तुः स्म लोके तनुषे स्वः परं वा। अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव कस्यचित्॥ ४५॥ न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव। भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम्॥ ४६॥ पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम्। परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्तान्मा-ऽवधीद्दैववधान्भवद्विधः॥**' ४७॥ भाव यह कि 'जिनका स्वभाव ही है कि दूसरेके मर्मको सदा छेदन करते हैं, उनको समझ लेना चाहिये कि उन्हींका कर्म उनका छेदन करता है। दैव आप ही उनके विपर्यय हो रहा है। जिनका हृदय मायासे तृप्त हो रहा है, वे अहं-ममर्में पड़े हैं। जैसे-जैसे उनके दुष्कर्म उदय होते हैं वैसे ही वे फल भोगते हैं। आप-सरीखे जो भगवत्-आश्रित हैं वे उनके दुष्कृत देख यही सोचते हैं कि दैवगतिमें यह विचारा क्या करे, आप सब उसपर कृपा ही करते हैं।'

कुमारसम्भवमें श्रीपार्वतीजीने ब्रह्मचारी (शिवजी) से कहा है कि—(सर्ग ५ श्लोक ७५) '**उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्। अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥**' अर्थात् महात्माओंके चरित अज्ञानी नहीं समझते; इसीसे वे उनका दोष लगाते हैं, उनके चरित्रोंकी निन्दा करते रहते हैं।—इस प्रकार तीन बातें जो भवानीने कहीं, उन्हीं तीनोंमें क्रमसे तीनों प्रकारके अविवेक उन्होंने सप्तर्षियोंमें कहे।

टिप्पणी—२ ☞ स्मरण रहे कि श्रीभवानीजीने उनके *'जारेउ काम महेस'* इन्हीं तीन शब्दोंको पकड़कर इन्हींसे उनको 'अविवेकी', 'बड़ अविवेकी' और 'अति बड़ अविवेकी' कह डाला। इस वाणीमें उन्होंने तीन अर्थ और तीनों दोषयुक्त दिखाये— एक तो यह कि कामको 'अब' जलाया; दूसरे, कामदेवके रहते वे कामी बने रहे। अब कामवासना नहीं रह गयी और तीसरे यह कि कामको जलाया (इससे रागद्वेषविकारयुक्त दिखाया)। इस तरह कामके जीवित रहते और उसके न रहते दोनों दशाओंमें, इनके शब्दोंसे इनका शिवजीको दोषी ठहराना साबित किया। इस प्रकार सप्तर्षियोंको उनके ही वाक्यसे लज्जित कर दिया, फिर वे कुछ कह ही न सके।

टिप्पणी—३ पुनः प्रथम वाक्य भवानीजीका यह है—*'उचित कहेउ मुनिवर बिज्ञानी।'* व्याख्या आगेके सब वचन हैं। व्यंग्यसे प्रथम कहा कि 'विज्ञानी मुनिवर' का ऐसा कथन अयोग्य है। आगे इस व्यंग्यको स्वयं धीरे-धीरे खोलती हुई अन्तमें स्पष्ट कह दिया कि ऐसे कथनसे स्पष्ट है कि आप अत्यन्त बड़े अज्ञानी हैं। जैसे अन्तमें *'अति बड़ अबिबेकु '* वैसे ही आदिमें *'मुनिबर बिज्ञानी'*। *'मुनिबर बिज्ञानी'* से तीन तरहके मुनियोंकी सूचना दी—मुनि, मुनिवर, विज्ञानी मुनिवर। क्रमसे इनके कथन 'अविवेक, बड़ अविवेक, अति बड़ अविवेक' के कहे। अर्थात् मुनियोंका ऐसा कथन अविवेकका, मुनिवरोंका **'बड़ अबिबेकु '** का और विज्ञानी मुनिवरोंका ऐसा कथन *'अति बड़ अबिबेकु '* का सूचक है।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'मैंने कामवासनासे शङ्करकी उपासना की है, ऐसी धारणा तुम लोगोंका बड़ा अविवेक है, पर शंकरमें अभिमानका आरोप करना कि उन्होंने कामको जलाया, यह तुम्हारा और बड़ा अविवेक है।'

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥ ७॥
गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई॥ ८॥

अर्थ—हे तात! अग्निका तो यह सहज ही (अपना निजका, जन्मसे ही) स्वभाव है कि पाला उसके पास कभी भी नहीं जाता॥ ७॥ समीप जानेपर (तो) वह अवश्य नष्ट हो जायगा। कामदेव और महादेवजीका (भी) ऐसा ही न्याय है॥ ८॥

नोट—१ *'तात अनल'*...... ' इति। (क) प्रथम तो ऋषियोंको अत्यन्त बड़ा अज्ञानी कहा और अब उनको *'तात'* सम्बोधन करती हैं; यह कैसा? *'तात'* संस्कृत भाषाका शब्द है। यह 'पिता' का वाचक है और पितृतुल्य गुरुजनोंके लिये प्रयुक्त हो सकता है। पर दुलार, प्यार आदिके भावसे छोटोंके लिये जब आवेगा तब प्रायः सम्बोधनरूपमें ही आवेगा। सम्बोधनरूपमें यह भाई, मित्र, पुत्र विशेषतः अपनेसे छोटेके लिये व्यवहृत होता है। यहाँ आदिमें श्रीपार्वतीजीको *'भवानी'* नाम दिया है—*'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी।'* भवानी हैं, जगन्माता वा भववामा होनेसे प्रथम तो सप्तर्षियोंको उन्होंने डाँट-फटकार बतायीं; फिर माताके समान उनको समझाने लगीं; अतः प्यारका सम्बोधन दिया। माताका यह सहज स्वभाव होता ही है। पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व इनको अविवेकी कहा था, इसीसे अब सम्मान-हेतु *'तात'* सम्बोधन किया। और पाँड़ेजी इसको सम्बोधन न मानकर अग्निका धर्म मानते हुए इस चरणका अर्थ करते हैं कि 'अग्निका सहज स्वभाव ही *'तात'* (गर्म) है।' (ख) *'हिम तेहि निकट— । गए समीप सो अवसि नसाई'* इति। हिम और अग्निका दृष्टान्त यहाँ देनेके भाव ये कहे जाते हैं कि—(१) आगके पास जाड़ा-पाला नहीं रहने पाता, उसका नाश हो जाता है। वह पास न जाय तो अग्नि उसे जलाने तो नहीं जाती। वैसे ही कामदेव धृष्टतापूर्वक स्वयं शिवजीके पास गया। अग्निनेत्र खुलते ही वह जल मरा; इसमें शिवजीका दोष क्या? (२) परमार्थमें ज्ञान-वैराग्यादि अग्निरूप हैं, उनके पास कामादिरूपी हिम नहीं जाता। (वै०) (३) लौकिकमें पाला वायव्य दिशामें रहता है, आग्नेय दिशामें जाता ही नहीं, अतः *'निकट जाय नहिं काऊ'* के दृष्टान्तमें इन दोनोंकी उपमा दी। (वै०)

नोट—२ *'असि मन्मथ महेस कै नाई'* इति। *'नाई'* का अर्थ है—१समान दशा, २ एक-सी गति। ३ समान, तुल्य। इस चरणके अर्थमें टीकाकारोंको बड़ी कठिनाईका सामना पड़ा है और वे भावार्थ कहकर निकल गये। *'असि'* और *'नाई'* दोनों पर्य्याय-से हैं, यही कठिनाईका कारण हो गया। पाँड़ेजी *'नाई'* का अर्थ 'पास' लिखते हैं और वीरकविजीने भी निकट जानेसे ऐसा अर्थ किया है। दासकी समझमें इसका दो प्रकार अर्थ हो सकता है। एक कि 'ऐसी ही मन्मथ और महेशकी गति वा दशा है।' दूसरा कि 'ऐसा ही न्याय मन्मथ और महेशका है' अर्थात् यही न्याय उनमें लागू होता है। ☞ स्मरण रहे कि सं० १६६१ की पोथीमें *'नाई'* शब्द है। यह संस्कृत भाषाके 'न्याय' शब्दका अपभ्रंश है। न्याय पुँल्लिङ्ग है, नाई स्त्रीलिङ्ग है। *'असि'* के सम्बन्धसे स्त्रीलिङ्गका प्रयोग हुआ है। यहाँ *'नाई'* संज्ञा है, विशेषण नहीं है।

उपमान वाक्यमें दो बातें कहीं। एक कि अग्निका सहज स्वभाव है कि हिम उसके पास नहीं जाता। दूसरी कि यदि हिम गया तो अवश्य नष्ट हो जाता है। यही न्याय वा यही दशा शिवजीकी और कामदेवकी है। महेशके पास काम जाता ही नहीं, यदि गया तो अवश्य नष्ट हुआ चाहे। महेश अनलरूप हैं, काम हिमरूप है, 'मन्मथ' की जोड़में महेशका प्रयोग कैसा उत्कृष्ट हुआ है। वह मनको मथनेवाला है तो ये भी तो देवोंके देव महादेव हैं। भला, इनके मनमें वह कब विकार उत्पन्न कर सकता है? यहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार है। ☞ *'तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा।'* से लेकर *'असि मन्मथ'*...... ' तक सप्तर्षियोंके *'जारेउ काम महेस'* का उत्तर है।

दोहा—हिय हरषे मुनि बचन सुनि देखि प्रीति बिस्वास।
चले भवानिहि नाइ सिर गए हिमाचल पास॥ ९०॥

अर्थ—(भवानी पार्वतीजी) के वचन सुनकर और उनका प्रेम और विश्वास देखकर सप्तर्षि मनमें प्रसन्न हुए। वे भवानीको मस्तक नवा (प्रणाम) कर चल दिये और हिमाचलके पास पहुँचे॥ ९०॥

नोट—१ *'हिय हरषे मुनि बचन सुनि'* इति। (क) *'हिय हरषे'* का भाव कि *'अति बड़ अबिबेकु'* बनानेपर क्रुद्ध न हुए क्योंकि मुनि हैं। जैसे *'छल साने'* वचन कहे थे वैसा ही उत्तर भी मिला। (ख) *'देखि प्रीति बिस्वास।'* इति। प्रीति देखी, यथा—*'जौं मैं सिव सेए अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥'* *देखि बिस्वास,* यथा—*'तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥'* (प्रीति देखी कि 'शिवजीने कामको जलाया' यह दोषारोपण सह न सकीं, तुरंत बोलीं—*'सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा।'* विश्वास देखा कि गुरुरूपसे नारदपर और इष्टदेवरूपमें शिवजीपर कैसा अटल विश्वास है—*'तौ हमार……'* (वि० त्रि०) (ग)—पं०रामकुमारजी यह शंका उठाकर कि 'इस बार तो उन्हें भवानीके पास न ब्रह्माहीने भेजा, न शिवने, तब वे अपनेसे क्यों गये?' और उसका समाधान करते हैं कि 'पहले जब उमाकी परीक्षा लेने आये तो उमाजीके वचनसे निरुत्तर हो गये, कोई जवाब न बन पड़ा। अब मनमें आयी कि *'अब भा झूठ तुम्हार पन'* यह कहँ चलकर, देखें क्या जवाब देती हैं।

☞ इस प्रसङ्गमें दो बातें स्मरण रखनेकी हैं कि श्रीपार्वतीजीके लिये सर्वत्र बहुवचन क्रियाओंका प्रयोग हुआ है।—*'प्रथम गए जहँ रहीं भवानी', 'सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी'।* दूसरे जैसे मुनियोंने *'हमार' 'तुम्हार'* का प्रयोग किया वैसे ही उत्तरमें *'हमार, हमरें', 'तुम्हार, तुम्हरें'* का प्रयोग हुआ है।

नोट—२ *'चले भवानिहि नाइ सिर'* यह उपसंहार है। *'प्रथम गए जहँ रहीं भवानी॥'* (८९। ८) उसका उपक्रम है। विनोदार्थ आये थे, विनोद हो गया और निरुत्तर भी हो गये। अतः कुछ न बोले, प्रणाम करके चलते हुए। प्रथम बार भी चलते ही समय प्रणाम किया गया था। प्रथम बार परीक्षा लेने आये थे तब पार्वतीजीने उनसे चले जानेको कहा था; यथा—*'मैं पा परउँ कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भएउ बिलंबा॥'* (८१) तब वे गये थे। अबकी बार वह नौबत नहीं आयी; कारण कि अबकी विनोदमात्र था और वह भी मधुर वाणीमें।

नोट—३ *'गए हिमाचल पास'* इति। *'तुरतहि बिधि गिरि भवन पठाए।'* (८९। ७) पर प्रसङ्ग छोड़ा था, अब *'गए हिमाचल पास'* कहकर वहींसे प्रसङ्ग मिलाते हैं।

सबु प्रसंगु गिरि पतिहि सुनावा। मदन दहन सुनि अति दुखु पावा॥ १॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुखु माना॥ २॥
हृदय बिचारि संभु प्रभुताई। सादर मुनिबर लिये बोलाई॥ ३॥

अर्थ—(और उन्होंने) गिरिराजको सब प्रसंग (समाचार) सुनाया। कामदेवका भस्म होना सुनकर वह अत्यन्त दुःखी हुए॥ १॥ फिर उन्होंने रतिका वरदान (पाना) कहा, वरदान सुनकर वे बहुत सुखी हुए॥ २॥ हृदयमें शङ्करजीकी प्रभुता विचारकर हिमवान्ने आदरपूर्वक श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनिवरोंको बुलवा लिया॥ ३॥

नोट—१ (क) *'सबु प्रसंगु'* अर्थात् तारकासुरसे पीड़ित देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना। उनकी सलाहसे शिवजीकी समाधि छुड़ानेके लिये उन सबोंका कामदेवको भेजना और कामदेवका ब्रह्माण्डको विजय करके शिवजीकी समाधि छुटाना, शिवजीका उसे भस्म कर देना। इतनी कथा कही। (ख) *'मदन दहन सुनि अति दुखु पावा'*—दुःख होनेका कारण यह हुआ कि कन्याको पतिका सुख ही न होगा, हमें नाती-पनातीका सुख न मिलेगा और इतना भारी तप शिवजीके लिये जो किया गया वह सब व्यर्थ ही हुआ। अब उनके साथ विवाह करना उचित होगा या नहीं, यह चिन्ता पड़ गयी। उधर तप उन्हींके लिये किया गया है, अतः यह टाले टल भी नहीं सकता। (ग) *'अति दुखु पावा'* से जनाया कि पूर्व

पतिके दोष सुनकर दु:ख हुआ था और अब कामदेवका दहन सुना, तब *'अति दुख'* हुआ। (घ) *'……रति कर बरदाना। सुनि……बहुत सुखु माना'* इति। भाव कि जिसको हानिसे अति दु:ख होता है, उसको लाभसे अति सुख हुआ ही चाहे। अत: वरदान सुनकर अति सुख हुआ। पुन:, जिस वस्तुकी हानिसे अति दु:ख होता है जब वही वस्तु पुन: प्राप्त हो जाती है तब जो सुख होता है वह अकथनीय होता है, अत: *'अति सुखु माना'* कहा। बहुत दु:ख हुआ अत: उसकी निवृत्तिके लिये रतिका वरदान कह सुनाया। इससे सिद्ध हुआ कि दम्पतिकी अब भी वही लौकिकी दृष्टि है।

(ङ) *'बिचारि प्रभुताई'* अर्थात् विचारा कि बड़े ही समर्थ हैं, कृपाल हैं—*'नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ। सासति करि पुनि करहिं पसाऊ'।* उजाड़ना और फिर बसा देना, मारना और जिलाना इत्यादि कामोंके करनेको आप ही समर्थ हैं। इस प्रभुताको विचारनेसे लौकिकी दृष्टिसे जो शङ्का हुई थी वह जाती रही। अत: ब्याहके लिये तैयार हो गये। (च) *'सादर मुनिवर लिये बोलाई'* इति। सप्तर्षि तो समीप हैं ही, अत: 'मुनिवरों' से उन ऋषियोंका ग्रहण है जो हिमालयपर बसे हुए थे। यथा—*'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे'* (६५, *'बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ'* (७३) मुनिवरोंका बुलाना कहकर जनाया कि सप्तर्षियोंने रतिके वरदानके पश्चात् ब्रह्मादि देवताओंका शिवजीके पास जाना, विवाह अङ्गीकार कराना और तुरंत अपना यहाँ भेजा जाना भी कहा और यह भी कहा कि सब देवता अभी वहीं हैं, हमारी राह देख रहे होंगे। यह जानकर हिमवान्‌ने भी शीघ्रता की। उसी समय उन्होंने ज्योतिषी मुनीश्वरोंको बुलवाकर मुहूर्त निश्चय करायी।

सुदिन सुनखतु सुघरी सोचाई। बेगि बेद बिधि लगन धराई॥४॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही॥५॥

अर्थ—उनसे शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी शोधवाकर वेदविधानके अनुसार शीघ्र लग्न धरायी अर्थात् निश्चित कराके लिखा ली॥४॥ हिमाचलने वही लग्नपत्रिका सप्तर्षियोंको दे दी और चरण पकड़कर उनकी विनय की॥५॥

नोट—१ *'सुदिन सुनखतु सुघरी सोचाई……लगन……'* इति। (क) दिन, नक्षत्र और घड़ीमें *'सु'* उपसर्ग देनेसे पाया जाता है कि दिन, नक्षत्र, घड़ी बुरे भी होते हैं। त्रिपाठीजी कालिकापुराणका प्रमाण देते हुए लिखते हैं कि वैशाख सुदी पंचमी गुरुवार, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, मेष लग्न, भरणीके आदिमें सूर्य, यह लग्न मुनियोंने स्थिर की। यथा—**'माधवे मासि पञ्चम्यां सिते पक्षे गुरोर्दिने। चन्द्रे चोत्तरफाल्गुन्यां भरण्यादौ स्थिते रवौ।'**

नोट—२ *'बेगि बेद बिधि……'* इति। (क) *'बेगि'* का भाव कि कहीं शिवजी फिर समाधि न लगा बैठें। अथवा यह जानकर कि देवता दु:खी हैं, इसीसे ब्रह्माजीने सप्तर्षियोंको हमारे यहाँ भेजा है, वे प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अत: शीघ्रता की कि इन्हींके साथ लग्न चली जाय। शुभ कार्यमें विलम्ब करना उचित नहीं—**'शुभस्य शीघ्रम्।'** *'बेद बिधि……'* इस कथनसे ज्ञात हुआ कि देवतालोग भी वेदका प्रमाण मानते हैं और वेदके अनुसार चलते हैं। (ख) *'पत्री……सोइ दीन्ही।……'* इति। यहाँ *'लगन धराई'* का अर्थ खोल दिया कि लग्न आदि शोधवाकर पत्रमें लिखवा लिया और वही पत्र उनको दे दिया। इस पत्रको लग्नपत्र वा पत्रिका कहते हैं। ☞ इसमें विवाह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कृत्योंका भी लग्न स्थिर करके ब्योरेवार लिखा जाता है। (ग) *'गहि पद बिनय……'* इति। विनती की कि हमारे महत् भाग्य उदय हुए, हम तो किसी योग्य नहीं, उनको कुछ दे नहीं सकते इत्यादि। मेरी ओरसे यह बहुत-बहुत विनती ब्रह्माजी और महेशजीसे कर दीजियेगा।

जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि* सो पाती। बाचत प्रीति न हृदय समाती॥ ६॥
लगन बाचि अज† सबहि सुनाई। हरषे मुनि‡ सब सुर समुदाई॥ ७॥
सुमनबृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल कलस दसहु दिसि साजे॥ ८॥

शब्दार्थ—**पाती**=पत्रिका, लग्नपत्र। **समुदाई** (समुदाय)=समाज, गिरोह।

अर्थ—उन्होंने जाकर वह पत्रिका ब्रह्माजीको दी। उसे पढ़ते हुए उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता (उमड़ा चला आता है)॥ ६॥ ब्रह्माजीने लग्न पढ़कर सबको सुनाया। सब मुनि और सब देव-समाज (सुनकर) हर्षित हुए॥ ७॥ आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, बाजे बजने लगे। दसों दिशाओंमें मङ्गल कलश सजाये गये॥ ८॥

नोट—१ *'जाइ बिधिहि……'* इति। (क) पार्वतीमङ्गलसे जान पड़ता है कि एक रात सप्तर्षियोंको हिमाचलके यहाँ लग्नपत्रिकाके कारण ठहरना पड़ा था; यथा—***'रिषि सात प्रातहि चले प्रमुदित ललित लगन लिखाइ कै॥'*** (५१) (ख) ***'बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती'*** इति। लग्नपत्रिका कन्याका पिता वरके पिताके पास भेजता है। यहाँ ब्रह्माजी समाजमें अगुआ हैं, प्रधान हैं, सबके पितामह हैं, इन्हींने शिवजीको विवाहके लिये राजी किया और इन्हींने सप्तर्षियोंको गिरिराजके पास भेजा था। यह भी रीति है कि जब पिता नहीं होता तो जो बड़े-बूढ़े होते हैं उनके हाथमें पत्रिका दी जाती है। शिवजी तो दूलह हैं; विवाहका कार्य बड़े-बूढ़ेके हाथमें रहता है। अतः इन्हींको लग्नपत्रिका दी गयी। पुनः, श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीसे ही रुद्रकी उत्पत्ति कही गयी है। यथा— '**धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः। सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः॥** (७) **स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः॥**' (८) अर्थात् सनकादिने जब सृष्टि-रचना करनी स्वीकार न की तब ब्रह्माजीको क्रोध आ गया। बहुत रोकनेपर वह क्रोध भृकुटियोंद्वारा तुरंत एक नीललोहितवर्ण बालकके रूपमें प्रकट हो गया। वे देवताओंके पूर्वज भगवान् शङ्कर उत्पन्न होते ही रोने लगे इत्यादि। (भा० ३। १२) पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी है कि क्रोध आनेपर ब्रह्माजीके ललाटसे मध्याह्नकालीन सूर्यके समान अर्धनारीश्वररूप रुद्र प्रकट हुए।—इन प्रमाणोंसे ब्रह्माजी शिवजीके पिता ही हैं। अतः ये समधी हैं; इसीसे इनको लग्नपत्रिका दी गयी। इनका और हिमाचलका समधौरा हुआ है। यथा—***'पहिलिहि पँवरि सुसामध भा सुखदायक। इत बिधि उत हिमवान सरिस सब लायक॥'*** (७२ पार्वतीमङ्गल) (ग) ***'बाचत प्रीति न हृदय समाती।'*** इति। ☞श्रीरामविवाहकी पत्रिका जब श्रीदशरथजी महाराजके पास आयी तब उनका भी यह हाल हुआ था। विशेष भाव वहीं लिखे गये हैं।

* दोनोंका मिलान *

श्रीब्रह्माजी	श्रीदशरथजी (दोहा २९०)
जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती	१ *करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्ही।*
बाँचत प्रीति न हृदय समाती	२ *बारि बिलोचन बाचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥*
लगन बाचि अज सबहि सुनाई	३ *पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची*
हरषे मुनि सब सुर समुदाई	४ *हरषी सभा बात सुनि साँची*
सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे	५ *हरषि हने गह गहे निसाना*
मंगल कलस दसहु दिसि साजे	६ *'भुवन चारिदस भयउ उछाहू॥'* *'मंगल रचना रची बनाई'॥* २९६॥

☞***'प्रीति न हृदय समाती'*** की व्याख्या उपर्युक्त मिलानमें आये हुए उद्धरणोंसे हो जाती है। 'प्रेम

* दीन्ही सो—१७०४। † बिधि—१७२१, छ०। अस—१७६२। तेहि—१७०४। अज—१६६१, को० रा०। ‡ सुनि सब—१७०४। मुनिवर—को० रा०। मुनि सब—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

समाता नहीं' अर्थात् इतना बढ़ा है कि हृदयरूपी पात्रमें न अट सका, अश्रु और रोमाञ्चरूपसे बाहर निकल पड़ा। प्रेममें यह दशा हो जानेका कारण एक तो यह है कि देवताओंका दुःख अब अवश्य शीघ्र दूर होनेकी पूर्ण आशा हो गयी, पार्वतीजीको वर दिया वह पूरा होगा, बारातमें समधी बनकर जायँगे। दूसरे पत्रिकाकी रचना भी कारण है। (घ) दो बार बाँचनेके उल्लेखका भाव एक तो यह कि प्रेमके मारे पढ़ी न जा सकी, पढ़ते ही प्रेम-विभोर हो गये। इससे दुबारा पढ़ी; जैसे कि दशरथजी महाराजने। दूसरा कि प्रथम पढ़कर स्वयं समझ लिया तब सबको भी पढ़कर सुनाया। तीसरा भाव कि प्रथम लग्नपत्रका पढ़ना लिखा और दूसरी बार केवल लग्न सबको सुनायी। बाँचना एक ही बारका कहा, दूसरी बार बाँच चुकनेपर केवल लग्नको सुनाया। वा चौथा भाव कि प्रथम स्वयं पढ़कर आनन्द लिया, फिर प्रेमलपेटी पत्रिका सबको सुनाकर सबको भी आनन्द दिया। ☞ *'नभ बाजन बाजे' 'मंगल कलस दसहु दिसि साजे।'* कहनेसे पाया जाता है कि ब्रह्माजीने लग्न सुनाकर सबसे यह भी कहा कि सब-के-सब विवाहके मङ्गल-साज सजो और शीघ्र बारातकी तैयारी करो। इसीसे तुरंत मङ्गल सजाये और बधाइयाँ होने लगीं। यथा—*'बेगि बुलाइ बिरंचि बँचाइ लगन तब। कहेन्हि बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब॥ बिधि पठए जहँ तहँ सब सिवगन धावन। सुनि हरषहिं सुर कहहिं निसान बजावन॥'* (पार्वतीमङ्गल ५६) (ङ) *'हरषे मुनि सब सुर……।'* हर्षका कारण स्पष्ट है कि अब तारकासुरका नाश शीघ्र होगा, हमारी विपत्ति दूर होगी एवं बाराती बनकर तुरत ही जायँगे, इत्यादि। हर्ष मनका है; इसीको सुमनवृष्टि करके कर्मद्वारा प्रकट कर रहे हैं। (च) *'मंगल कलस दसहु दिसि साजे'* इति। दसहु दिसि कहकर जनाया कि समस्त दिग्पाल मङ्गल मनाने लगे, सभी अपने-अपने यहाँ मङ्गलकलश सजा-सजाकर रख रहे हैं। *'मंगल कलश'* उन्हें कहते हैं जो विवाहके समय सजाये हुए चौक पूरकर द्वार-द्वारपर रखे जाते हैं। इनपर मङ्गलशकुनसूचक पक्षी आदि भी बनाये जाते हैं। श्रीरामविवाहमें भी इनका उल्लेख है और राज्याभिषेकपर भी। यथा—*'मंगल कलस अनेक बनाए॥* (२८९। २) *'छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुन जनु नीड़ बनाए॥'* (३४६। ६) (ये ही मङ्गलकलश हैं, विशेष वहीं देखिये), *'कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबहिं धरे सजि निज निज द्वारे॥'* (७। ९) सम्भवतः *'मंगल कलस'* का भाव न समझकर लोगोंने *'मंगल सकल'* पाठ कर दिया हो। *'मंगल कलस'* पाठमें दोनों भावोंका समावेश हो सकता है—*'मंगल'* और *'मंगलकलश।'* इस प्रकार प्रथम *'मंगल'* का अर्थ होगा—'शकुनसूचक द्रव्य।' यथा—*'मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥ छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुन जनु नीड़ बनाए॥ सगुन सुगंध न जाइ बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी॥*……' इत्यादि। (१। ३४६) पुनः, यथा—*'बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मंगल हेतू॥ बीथीं सकल सुगंध सिचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥ नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे॥* (उ० ९) यह ही अनेक प्रकारके *'मङ्गल'* हैं।

पं० रामकुमारजी—'देवता सब प्रत्यक्ष यहीं बैठे हैं तब आकाशमें बाजा बजानेका क्या प्रयोजन? उसी जगह क्यों न बजाये?' इस सम्भावित शङ्काका उत्तर यह है कि (सुरतरुके पुष्पोंकी) वृष्टि नभसे ही बनती है, इसीसे सुमनवृष्टि वहींसे हुई और बाजे भी साथ-साथ वहींसे बजे। अथवा *'बाजन बाजे'* बहुवचन पद देकर जनाया कि गन्धर्वलोग आकाशसे अनेक बाजे बजा रहे हैं। यह काम उनका है।'

दोहा—लगे सँवारन सकल सुर बाहन बिबिध बिमान।
होंहिं सगुन मंगल सुभद* करहिं अपछरा गान॥ ९१॥

अर्थ—सब देवता अपने भाँति-भाँतिके वाहन और विमान सजाने लगे। शुभदायक (मङ्गलकारक) मङ्गल शकुन हो रहे हैं; अप्सराएँ गाना गा रही हैं॥ ९१॥

* सुभग—छ०। सुखद—१७०४, को० रा०। सुभद—१६६१, १७२१, १७६२।

नोट—१ *'लगे सँवारन.......'* इति। (क) लग्न पढ़ी गयी और तुरंत देवता वाहनादि सजाने लगे। इससे निश्चय हुआ कि लग्न जल्दीकी ठहरी है। (ख) *'बाहन बिबिध बिमान'* इति। देवताओंके वाहन भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि भगवान् विष्णुका वाहन गरुड़, इन्द्रका ऐरावत, यमका भैंसा, कुबेरका पुष्पकविमान, वरुणका मगर, ब्रह्माजीका हंस एवं हंसाकार विमान, अग्निदेवका बकरा, पवनदेवका मृग, ईशानका वृषभ और नैर्ऋतका प्रेत वाहन है। इसी प्रकार सब लोकपाल, ग्रह आदि अपनी-अपनी सेनासहित थे। वाहन=सवारी। विमान=आकाशमें उड़नेवाला रथ। ये भी अनेक प्रकारके होते हैं। कुबेरका पुष्पकविमान प्रसिद्ध ही है। ☞'मानसर नामक' प्राचीन ग्रन्थके अनुसार विमान गोल, चौपहला और अठपहला होता है। गोलको 'बेसर', चौपहलेको 'नागर' और अठपहलेको 'प्रविड़' कहते हैं। (श० सा०) देवताओंके विमान भी दिव्य होते थे। उनमें घटने-बढ़ने, छोटे-बड़े हो जानेकी शक्ति होती थी। त्रिपुरासुरके तीनों विमानोंकी चर्चा पूर्व आ चुकी है। वे नगरके समान बड़े थे। पुष्पकविमानपर समस्त वानरयूथप आ गये थे। (ग) वाहनोंपर बहुमूल्य झूलें आदि डाली जाती हैं, उनको आभूषण पहनाये जाते हैं, तिलक आदि अनेक विचित्र रङ्गोंसे उनके मस्तक आदिपर चित्रकारी होती है, उनको मालाएँ पहनायी जाती हैं, इत्यादि। यही सब सँवारना है। ऐसा ही विमानोंके सम्बन्धमें जानिये। आज भी बारातों और मङ्गलोत्सवोंमें यह रीति देखनेमें आती है।

नोट—२ *'होहिं सगुन मंगल सुभद.......'* इति। (क) *'सुभद'* (शुभद)=शुभदायक। यह संस्कृत शब्द है। ☞सम्भवत: अर्थ न समझनेके कारण इसे लेखक प्रमाद समझकर 'सुभग' और 'सुखद' पाठ लोगोंने कर दिया हो। (ख) मङ्गल शकुनोंका वर्णन कवि श्रीरामजीके विवाहकी बारातके पयान-समय करेंगे, इसीसे उन्होंने यहाँ केवल *'मंगल सुभद'* विशेषण देकर छोड़ दिया। दोहा ३०३ में जो वर्णन है, वही सब यहाँ मङ्गल सुभदसे कह दिया है। यथा—*'होहिं सगुन सुंदर सुभदाता॥ चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥ दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा॥ सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥ लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा॥ मृगमाला फिर दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्ह देखाई॥ छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥ सनमुख आयो दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥ मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार। जनु सब साँचे होन हित भए सगुन एक बार॥* (३०३) *मंगल सगुन सुगम सब ताके.......'*। ☞ इस उद्धरणका *'सुभदाता'* और *'कल्यानमय अभिमत फल दातार'* ही यहाँका 'सुभद' है और 'मंगलमय' यहाँका 'मङ्गल' है।

नोट—३ स्कन्द पु० मा० के० के मतानुसार शिवजीने विष्णु, ब्रह्मा आदिको नारदजीके द्वारा बारातके लिये बुलाया है और मानस-कल्पवाली कथाके अनुसार जान पड़ता है कि सप्तर्षियोंने ब्रह्माजीको लग्नपत्रिका दी। उसे पाकर ब्रह्माजीकी प्रेरणासे सब देवता बराती बनकर चले। स्कन्दपु० के शिवजी विवाहके लिये उतावले हो रहे थे। मानसकल्पके शिवजी ऐसे नहीं हैं। यहाँ तो ब्रह्मादि देवता ही उनके विवाहके लिये उत्सुक हैं। इसीसे तो लग्न सुनते ही सब सुर और मुनि हर्षित होकर बारातके लिये तैयार होने लगे। 'पार्वतीमङ्गल' में ब्रह्माजीका ही सबको निमन्त्रण भेजना कहा है। यथा—*'बेगि बुलाइ बिरंचि बँचाइ लगन तब। कहेन्हि बियाहन चलहु बुलाइ अमर सब॥ बिधि पठए जहँ तहँ सब सिवगन धावन। सुनि हरषहिं सुर कहहिं निसान बजावन॥* (५६) *रचहिं बिमान बनाइ सगुन पावहिं भले। निज निज साजु समाजु साजि सुरगन चले॥'*

शिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहिमौरु सँवारा॥ १॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥ २॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥ ३॥
गरल कंठ उर नर सिर माला। अशिव बेष शिवधाम कृपाला॥ ४॥
कर त्रिशूल अरु डमरु बिराजा। चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा॥ ५॥

शब्दार्थ—**'मौरु'** (मौर)—एक प्रकारका शिरोभूषण जो ताड़पत्र या खुखड़ी आदिका बनाया जाता है और विवाहमें वरके सिरपर पहनाया जाता है। ***'कुण्डल'***—यह कानोंमें पहननेका एक मण्डलाकार भूषण है, जो प्राय: सोने या चाँदीका होता है। यह अनेक प्रकारके आकारका बनाया जाता है; जैसे—मकराकृत, मीनाकृत, मोराकृत कुण्डल। ***'कंकन'*** (कङ्कण)—यह आभूषण हाथकी कलाईपर बाँधा जाता है और विवाहके पश्चात् बारात लौटनेपर कङ्कण छोड़नेकी रस्म होती है। शब्दसागरमें लिखा है कि विवाहमें देशाचार-अनुसार चोकर, सरसों, अजवायन आदिकी पीले कपड़ेमें नौ पोटलियाँ लाल-पीले तागेसे बाँधते हैं, एक तो लोहेके छल्लेके साथ दूलह वा दुलहिनके हाथमें बाँध दी जाती है। शेष आठ मूसल, चक्की, ओखली, पीढ़ा, हरीस, लोढ़ा, कलश आदिमें बाँधी जाती हैं। ***'डमरु'***—एक बाजा जिसका आकार बीचमें पतला और दोनों सिरोंकी ओर बराबर चौड़ा होता जाता है। दोनों सिरोंपर चमड़ा मढ़ा होता है। इसके बीचमें दो तरफ बराबर बढ़ी हुई डोरी बँधी रहती है, जिसके दोनों छोरोंपर एक-एक कौड़ी या गोली बँधी होती है। बीचमें पकड़कर जब बाजा हिलाया जाता है तब दोनों कौड़ियाँ चमड़ेपर पड़ती हैं और शब्द होता है। यह बाजा शिवजीको बहुत प्रिय है। (श० सा०) संस्कृत-व्याकरणके चौदह मूल सूत्रोंकी रचना ***'डमरू'*** से ही हुई है। इस सम्बन्धमें एक मत यह है कि व्याकरणके पारदर्शी होनेके उद्देश्यसे पाणिनिने घोर तपस्या की। शिवजीने प्रकट होकर ताण्डव-नृत्य करते हुए चौदह बार डमरू बजाया। उसके १४ नादोंसे ही १४ सूत्रोंकी रचना हुई। इसीसे वे माहेश्वरसूत्र कहलाये। दूसरी कथा यह है कि सनकादिकी प्रार्थनापर शिवजीने १४ बार डमरू-ध्वनि की, जिससे ये १४ सूत्र हुए। (विशेष विनय-पीयूष-पद १० में देखिये) कहा जाता है कि इस जगत्को विनाश करनेवाले रात्रि-दिवसको ही शिवजी डमरूरूपसे धारण किये हुए हैं।

अर्थ—शिवजीके गण शिवजीका शृङ्गार कर रहे हैं। जटाओंका मुकुट बनाकर उसपर सर्पोंका मौर सजाया गया॥ १॥ सर्पोंके कुण्डल और सर्पोंके कङ्कण पहने हैं। शरीरपर भस्म (रमाये) और बाघाम्बरका वस्त्र (कटिमें बँधा है)॥ २॥ सुन्दर ललाट (माथे) पर सुन्दर चन्द्रमा और सुन्दर सिरपर सुन्दर गङ्गाजी (विराजमान हैं)। तीन नेत्र हैं। सर्पोंका ही जनेऊ है॥ ३॥ कण्ठमें हालाहल विष और वक्ष:स्थल (छाती) पर मनुष्योंकी खोपड़ीकी माला है। ऐसा अमङ्गल वेष होनेपर भी वे कल्याणके धाम और कृपालु हैं॥ ४॥ हाथमें त्रिशूल और डमरू विशेष शोभा दे रहे हैं (शिवजी यह शृङ्गार हो जानेपर) बैल (नन्दीश्वर) पर चढ़कर चले। बाजे बज रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'शिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा।……'*** इति। (क) उधर देवता बारातकी तैयारी करते हैं, उसी समय इधर गण वरको तैयार करते हैं। वरका शृङ्गार वर स्वयं नहीं करता, दूसरे ही करते हैं; इसीसे यहाँ शिवगणोंका शृङ्गार करना कहा। (पुन: उनका शृङ्गार उनके अनुकूल अन्य देवता कर भी नहीं सकते। शिवजीके नित्यके परिकर ही जान सकते हैं कि उनके स्वरूपके योग्य कैसा शृङ्गार करना चाहिये। अत: ***'संभुगन'*** का ही शिवजीको सजाना कहा।) [(ख) भगवान् शङ्करके किस अङ्गमें कौन सर्प आभूषणरूपसे रहते हैं? उत्तर—वे सर्पराज वासुकिको छातीमें चपकाये हुए यज्ञोपवीतकी भाँति धारण करते हैं। कम्बल और अश्वतर इन दोनों नागोंको दोनों कानोंका कुण्डल बना रखा है। कर्कोटक और कुल्किसे उत्तम कङ्कणका काम लेते हैं। शङ्ख और पद्म नामक नाग उनके भुजबन्द हैं। (स्कं० पु० मा० के०) ऐसा ही शृङ्गार शिवगणोंने शिवजीका किया।] (ग) ***'तन बिभूति पट केहरि छाला'*** इति। दूलहके अङ्गराग लगाया जाता है। उसकी जगह यहाँ ***'बिभूति'*** अर्थात् भस्म है। जामाकी जगह बाघाम्बर है। ***'छाल'***=चर्म। सिंहचर्म पहने नहीं हैं, किंतु बाँधे हैं, जैसे कटिमें पटुका बाँधा जाता है। आगेके ***'नगन जटिल भयंकरा'*** जो लड़कोंने माँ-बापसे कहा है उससे शिवजीका नग्न होना, वस्त्र न पहिने होना स्पष्ट है। केहरिछाला पटुका है। (घ) ***'ससि ललाट सुंदर सिर गंगा'*** इति। वेषभरमें यही सुंदर हैं, चन्द्रमा और गङ्गाजी। इसीसे इन्हींके साथ ***'सुंदर'*** विशेषण दिया। मस्तकपर चन्द्रमा है, उसके

ऊपर गङ्गाजी, इसीसे प्रथम चन्द्रमाको कहा तब गङ्गाको। [(ङ) *'गरल कंठ'''''' । अशिव बेष शिवधाम'* इति। *'गरल'* अर्थात् देवता आदिको कालकूटकी विषम ज्वालासे जलते देख आपने उस गरलको कण्ठमें रख लिया था। जिसके कारण कण्ठ नीला पड़ गया है। उसीका यहाँ संकेत है। यह शिवजीके अत्यन्त कृपालु करुणामय स्वभावका सूचक है, इसीसे *'कृपाला'* कहा। *'उर नर सिर माला'* से स्पष्ट किया कि मृतक मनुष्योंकी खोपड़ियोंकी माला है। कहा जाता है कि श्रीसुरथ और श्रीसुधन्वाजी जो राजा नीलध्वज या हंसध्वजके लड़के थे। जिन्होंने युधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञके घोड़ेको पकड़ा था और परम भागवत थे, उनके मारे जानेपर उनकी खोपड़ियोंको भी मालामें धारण किये रहते हैं। स्कंदपु० में लिखा है कि जब चन्द्रमा राहुसे डरकर शिवजीकी शरणमें गया और शङ्करजीने उसे मस्तकपर स्थान दिया तब राहुने आकर शङ्करजीकी स्तुति करके उनसे अपना भक्ष्य माँगा। शङ्करजीके कहनेपर कि मैं देवता और असुर सबका आश्रय हूँ, राहु भी उनको प्रणाम कर मस्तकपर जा बैठा। तब भयके मारे चन्द्रमाने अमृतका स्राव किया। उस अमृतके सम्पर्कसे राहुके अनेक सिर हो गये। देवकार्यसिद्धिके लिये शङ्करजीने उन सब मुण्डोंकी माला बना ली। (माहेश्वर केदारखण्ड) साथ ही यह भी कहा जाता है कि जब-जब सतीजी शरीरका त्याग करती हैं तब-तब उनके मुण्डको वे धारण करते हैं, उन्हीं मुण्डोंकी यह माला है। पर यहाँ *'उर नर सिर माला'* से इसका निराकरण होता है। (च) *'असिव बेष'*—मुण्डमाला, श्मशानकी विभूति, सर्प लपेटे, बाघाम्बर इत्यादि वेष 'अमङ्गल' है; परंतु आप शिवधाम (कल्याणके घर) और कृपालु हैं। अतः दूसरोंको भी कल्याण देते हैं। यथा—*'भेष तो भिखारि को भयङ्कररूप शङ्कर दयाल दीनबन्धु दानि दारिद-दहनु हैं।'* (क० उ० १६०) *'साज अमंगल मंगल रासी॥'* (२६। १) देखिये। ☞'कुमारसम्भव' सर्ग ५ श्लोक ७५—८२ में ब्रह्मचारी (शिव) से शिवजीके अमङ्गल-वेषकी निन्दा सुनकर श्रीपार्वतीजीने कहा है कि 'अज्ञानीलोग महात्माओंको यथार्थ नहीं जान सकते, इसीसे उनकी निन्दा करते हैं। शिवजी तो दरिद्र होनेपर भी सम्पत्तियोंके कारण हैं, श्मशानके आश्रय होते हुए भी त्रैलोक्यनाथ हैं, भयङ्कर रूप होते हुए भी वे शिव कल्याणसौम्यरूप हैं—**'स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते।'** चिताभस्म भी उनके देहस्पर्श-संसर्गसे पवित्र करनेको समर्थ हो जाती है। देवता उसे शिरोधार्य करते हैं। ऐरावतपर चढ़नेवाला इन्द्र बैलपर सवार शिवके चरणोंको प्रणाम करता है।' इत्यादि।] यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

टिप्पणी—२ *'कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा।''''''* इति। त्रिशूलसे भक्तजनोंके तीनों शूलोंका नाश करते हैं। बसहपर सवार हैं। वृषभ धर्मका स्वरूप है। बसहपर सवार हैं अर्थात् धर्मपर आरूढ़ हैं, यथा—*'जौ नहि करउँ दंड खल तोरा। होइ भ्रष्ट श्रुति मारग मोरा॥'*, **'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः'**। *'कर डमरु बिराजा'* कहकर 'चले' और *'बाजहिं बाजा'* कहनेका भाव कि शिवजी भी डमरू बजाते जा रहे हैं और भी बाजे बज रहे हैं। *'बाजा'* के साथ *'बाजहिं'* क्रिया दी और डमरूके लिये *'बिराजा'* ऐसा करके जनाया कि डमरू इन सब बाजोंसे विशेष है; कारण कि डमरू व्याकरण-शास्त्रका मूल है और उसके बजानेवाले श्रीशङ्करजी हैं। ऊपर कहा था कि *'सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे'* और यहाँ कहते हैं कि *'चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा'*, इस तरह जनाया कि ऊपर और नीचे दोनों ओर बाजे बज रहे हैं। [यदि *'बाजहिं'* को एकवचन मानें तो डमरू बजाते हैं, यह अर्थ कर सकते हैं।]

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—चित्रका अनमिल बेजोड़पन *'ससि ललाट सुंदर सिर गंगा'* के साथ-साथ विचारणीय है। *'अहि मौर सँवारा'* में *'सँवारा'* शब्द हास्यकलाकी जान है। मैं तो जब इस प्रसंगको पढ़ता हूँ तो मुँहसे अनायास ही निकल जाता है कि *'बलिहारी भँग घुटना बाबाकी, क्या शकल बनायी है।'* परंतु कवि बड़े सुन्दर संकेतसे याद दिला देता है कि यह नक्काली नहीं है। इसमें शिव-व्यक्तित्वका रहस्य भी है—*'असिव बेष सिवधाम कृपाला'*। तुलसीदासजीकी कलाकी यह विशेषता है कि संकेत ऐसे होते कि रसभंग न हो।

दूलहके साजका शिव दूलहके साजसे मिलान

सिरपर पगड़ी। उसपर रंग-विरंगके मणियोंसे जटित मौर,	१ जटामुकुट। उसपर रंग-विरंगके मणियुक्त सर्पोंका मौर
कानोंमें कुण्डल, हाथमें कङ्कण	२ सर्पका सिर और पूँछ मिलाकर कुण्डल बना। कङ्कणाकार करके कलाईमें लपेट दिया।
उबटन, अतर	३ विभूति, चिताकी भस्म
जामा नीमा पटुका	४ बाघाम्बर
दही अक्षतका तिलक	५ बालचन्द्र
शुद्धताके लिये स्नान	६ गङ्गाजी सदा विराजमान
माथेपर डिठौना जिसमें नजर न लगे	७ भालपर अग्निनेत्र—'निठुर निहारिये डीठी भालकी।'
ब्याहके पूर्व तीन सूतका जनेऊ	८ तीन सर्पोंसे त्रिसूत्र जनेऊ बना
दुलहके पास खड्ग वा लोहेका अस्त्र रक्षाहेतु रहता है	९ त्रिशूल और डमरू
मोतीमणि आदिकी माला	१० नर-मुण्डमाल

नोट—१ सर्पोंके आभूषण, विभूति, व्याघ्रचर्म आदिके धारण करनेके कुछ आध्यात्मिक भाव—(क) कालभगवान्‌के अधीन है, इस भावको दरसानेके लिये आप महाविषधर सर्पको धारण किये हैं। पुनः, जिस समय जीव अपनी सत्ताको शिवभावमें लीन कर देता है उस समय जीवसे द्वन्द्वात्मक कर्मोंसे युक्त प्रकृतिके नाना प्रकारके धर्म अपने-आप ही निवृत्त हो जाते हैं। इस बातको प्रकट करनेके लिये शङ्करजी सर्पोंको अपना अलंकार बनाये हैं। (ख) स्थूलका अन्तिम परिणाम भस्म है। इस स्थूल ब्रह्माण्डको भस्मरूपमें ले आनेवाले शङ्कर हैं। इस भावको सूचित करनेके लिये उनके शरीरमें भस्म लगी रहती है। यह त्याग-वैराग्य-उदासीनता-निर्लिप्ततादिको भी प्रकट करता है। (ग) अति शौर्यशाली तथा बली जीवोंपर शासन करनेमें समर्थ हैं। व्याघ्रचर्म धारण करना इस भावका सूचक है। पुनः प्रथमरूपमें ब्रह्माण्डके साथ कालका सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डकी आयुके अनुसार महाकाल रुद्र भी परिच्छिन्न हैं। इसलिये रुद्रको व्याघ्राम्बरधारी कहा है। मस्तकमें चन्द्रमाका संकेत प्रणवकी अर्धमात्रासे है और इसी निमित्त उनके मस्तकको अर्धचन्द्र भूषित करता है। (श्रीभवानीशङ्करजी) बालशशि धारण कर जनाते हैं कि टेढ़े, कुटिल, दीन-क्षीणको भी शरण देते तथा जगद्वन्द्य करते हैं—**'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।'** (ङ) आध्यात्मिक गङ्गा एक बड़ा तेजपुञ्ज है, जो महाविष्णुके चरणसे निकलकर ब्रह्माण्डनायक श्रीमहादेवजीके मस्तकपर गिरता है और वहाँसे संसारके कल्याणके निमित्त फैलता है। इस तेजको केवल 'महादेव' धारण कर सकते हैं। श्रीशिवजीकी कृपासे इस आध्यात्मिक गङ्गाका लाभ अभ्यन्तरमें अन्तरस्थ काशीक्षेत्रमें होता है। (श्रीभवानीशङ्कर पुनः शिवजीको 'पृथ्वीका अभिमानी देव' कहा गया है। पृथ्वीका सबसे उच्च प्रदेश हिमालय ही उनका सिर है। हिमालयसे जगत्पावनी पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजीका आविर्भाव होता है। इस भावको प्रकट करनेके लिये शङ्करजी गङ्गाजीको अपने मस्तकपर धारण करते हैं। (च) दोनों नेत्र पृथ्वी और आकाशके सूचक हैं। तृतीय नेत्र बुद्धिके अधिदैव सूर्य ज्ञानाग्निका सूचक है। इसी ज्ञानाग्निरूप तीसरे नेत्रके खुलनेसे काम भस्म हो गया था। (छ) *'गरल कंठ'* इति। संसारके अनिष्टसे अनिष्टकारी पदार्थोंको भी अनुकूल बनानेमें आप समर्थ हैं। इस भावको प्रकट करनेके लिये आप विषपान किया करते हैं। (श्रीगंगेश्वरानन्दजी) (ज) *'नर सिर माला'* इति। विनयमें भी *'नृकपालमालधारी'* (पद १२) कहा है। कारण-शरीर विशिष्ट चेतनकी समष्टि ही रुद्र है। कारणविशिष्ट चेतन जो शरीरद्वयके नष्ट होनेपर

अवशिष्ट रह जाता है, उन्हीं सब प्रलयकालीन जीवोंकी स्थितिके सूचक भगवान् शङ्करके गलेमें मुण्डमाल पड़ी हुई है। (श्रीगंगेश्वरानन्दजी) (झ) **'त्रिशूल'** का भाव है त्रितापका नाश करना अर्थात् त्रितापसे मुक्ति पाकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे भी परे तुरीयामें पहुँचना। ऐसा साधक ही यथार्थ त्रिशूलधारी है। (श्रीभवानीशङ्करजी) ***'डमरू'*** का भाव शब्दार्थमें दिया गया है। (ञ) **'बसह'** इति। सत्त्वगुणका पूर्ण विकास होनेपर ही धर्मका विकास होता है। पशुजातिमें सबसे अधिक सत्त्वगुणका विकास गोजातिमें है। इसलिये धर्मका सूचक बैल ही श्रीशिवजीका वाहन है। श्रीवासुदेवशरणजी लिखते हैं कि कामकी एक संज्ञा 'वृष' है। शिवजी मदनका दहन कर चुके हैं। उन्होंने कामको परास्त कर लिया है। वे अरूपहार्य योगीश्वर हैं। अतएव 'वृष' उनका वाहन बन गया है—विशेष देखना हो तो 'विनय-पीयूष' में पद १०, ११, १२ में एवं अन्य शिवस्तुतियोंमें देखिये।

वि० त्रि०—शिवजी तमोगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी त्रिगुणातीत हैं, इसीलिये अशुभ वेष शिवधाम हैं। भस्म, गङ्गाजी, तृतीय नयन, सर्प और डमरूके व्याजसे पाँचों तत्त्वोंको धारण किये हुए हैं। चन्द्र और गरलके व्याजसे सञ्जीवनी और मारण-शक्ति (जो सब शक्तियोंकी सार हैं) धारण किये हुए हैं! **'अशिव बेष शिवधाम'** यह अलौकिकता है। लोकमें ठीक इसके विपरीत है। सौम्यको ***'सौम्य बेष'*** और करालको 'कराल बेष' प्रिय लगता है।

प० प० प्र०—(क) ***'जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा'***—जटा मुकुट तो मङ्गलरूप है किंतु उसपरका ***'अहिमौर'*** अमङ्गल है। तथापि अहिमौर बताता है कि कोई कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो जबतक वासनारूपी सर्पका फण उसके ऊपर रहता है तबतक भव-भयसे छुटकारा न मिलेगा। वह सर्प डसेगा। (ख) ***'ससि ललाट'*** शशिके धारणका भाव कि तुम भले ही वक्र और कलङ्कित आदि क्यों न हो, यदि सद्गुरुरूपी शिवजीका आश्रय ले लोगे तो अवश्य जगद्वन्द्य हो जाओगे। (ग) ***'सुंदर सिर गंगा'*** द्वारा सूचित करते हैं कि वासनारूपी नागिनके भय और उसके दु:खद विषयरूपी विषसे मुक्त होनेके लिये ज्ञान-गङ्गाको सिरपर धारण करना चाहिये। भगवच्चरणामृतको सिरपर चढ़ाइये। ज्ञान-गङ्गा सद्गुरु शिवजीकी कृपासे ही प्राप्त होगी—**'ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत्'**।*'बिन गुरु होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।'* अत: प्रथम अहिमौर तब वैराग्यकी आवश्यकता बतायी। शङ्करजी 'वैराग्याम्बुजभास्कर' हैं ही। (घ) ***'कुण्डल ब्याला'***—मन ही भयङ्कर व्याल है। कानोंमें जो नाद सुन पड़ता है, उसमें मनको लगानेसे वह मनरूपी व्याल वशमें आता है—(योगतारावली देखिये) इस अभ्यासको नादानुसंधान कहा है। मनको वश करनेके लाखों साधनोंमें यह सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ योगाभ्यासकी आवश्यकता सूचित की। (ङ) ***'कंकन ब्याला'***—विषय दुर्धर व्याल हैं, इनसे जीव घिरा हुआ है जिससे उसका भगवान्से वियोग हुआ। नादानुसंधानरूपी योगसाधनद्वारा विषय-व्यालबन्धन तो छूटेगा ही, पर वे जीवके वशमें इसके हाथमें कङ्कणके समान भूषणास्पद बनके रहेंगे। (च)***'पट केहरि छाला'*** योगाभ्यास बाघाम्बरपर करना शीघ्र सिद्धिप्रद होता है। व्याघ्र क्रूर पशु है पर उसका चर्म पवित्र है। व्याघ्रचर्म कटिमें लपेटनेसे सूचित किया कि दोषोंको त्यागकर गुणोंका ग्रहण करना चाहिये। (छ) ***'तन बिभूति'*** से जनाया कि अष्टसिद्धि आदि विभूति योगाभ्याससे प्राप्त होगी, पर जो साधक इस ऐश्वर्यको चिताभस्मके समान अमङ्गल समझकर त्याग करेगा उसके शरीरपर लगा हुआ भस्म भी परममङ्गलकारक होगा। यह याद रखे कि सब दृश्य एवं ऐश्वर्य एक दिन भस्म होगा ही। (ज) ***'नयन तीनि'*** शिवजी त्रिनयन हैं। कृशानु, भानु और हिमकररूप हैं। मध्य नयन कृशानु है। नयन=नेता=ले आनेवाला (अमरव्याख्या सु०) सुख समाधानतक ले जानेवाले तीन नयन श्रीरामनाममें हैं, यथा—***'बंदौं नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥'*** (१९। १) श्रीरामनामरूपी नयनका अभाव हो और तीन या उससे भी अधिक आँखें हों तो भी भक्ति-विवेक-विरागका दर्शन होना असम्भव है। जिसके पास रामनाम-नेत्र होगा वह कृतकृत्य होगा। (झ) ***'उपबीत भुजंगा'*** इति। भुजंग=कुटिल गति। भाव यह है कि रामनामके प्रभावसे कुटिल गतिवाले काम-क्रोधादि महाभयङ्कर भुजङ्ग वशमें आ जायँगे। (ञ) ***'गरल कंठ'***—रामनामके प्रभावसे कालकूट भूषण हो गया, वे नीलकण्ठ

बन गये, अमर हो गये। रामनामका प्रभाव दिखाया कि उससे जन्म-मरणका भय दूर हो जाता है। संसारमें फिर आना नहीं पड़ता। (ट) *'उर नर सिरमाला'*—इससे जनाया कि ऐसे रामनामनिरत रामभक्त भगवान् शिवजीको इतने प्रिय होते हैं कि वे उनके मुण्डोंकी माला अपने गलेमें धारण करते हैं। (ठ) *'कर त्रिशूल'*—भाव कि शिवजी और रामनाम रामनामप्रेमी भक्तोंके त्रिशूल त्रिविध तापोंका नाश करते हैं। (ड) *'कर डमरु बिराजा'* इति। डमरू एक प्रकारका वाद्य है। इसके वादनसे डम्-डम् ऐसी ध्वनि निकलती है। **डम् इति ध्वनिं इयति इति डमरू** (अमरव्या० सु०) शिवजीकी डमरूध्वनिकी यह महिमा है कि उसको सुनते ही सब प्रतिकूलता भाग जाती है। 'ड'—कार शङ्कर है। उनके 'कर' में शं (कल्याण) विराजता है। (ढ) *'चले बसह चढ़ि'* इति। शिवजी वृषारूढ़ होकर ब्याहके लिये चल पड़े। वृष=धर्म। योग, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिका मूल आधार धर्म है। वेदपुराणोक्त धर्मपर आरूढ़ होकर चलनेसे ही यह सब साधन अनायास सिद्ध होगा, अन्यथा असम्भव है। यथा—*'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना', 'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'*

उपसंहार। *'जटा मुकुट'* से प्रारम्भ किया, मानो साधन-मन्दिरके कलशसे प्रारम्भ हुआ और साधन-मन्दिरकी धर्मरूपी नींवतक बखाना है। शिवजीके वेषमें जो कुछ अमङ्गलता देखनेमें आती है, वह इस प्रकार परम मङ्गलताका बोध करानेके लिये है। १४ प्रकारोंसे भूषित शिवजी अमङ्गल वेषवाले होनेपर भी १४ भुवनोंमें वन्द्य और पूज्य हैं और '**श्रीरामभूपप्रियम्**' हैं। वैसे ही इस साधन-परम्पराका आश्रय लेनेवाला जीव चौदहों भुवनोंमें पूज्य-वन्द्य ही बनेगा, यह भी ध्वनित किया है।

देखि शिवहि सुरतिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥ ६॥
बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥ ७॥
सुर समाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह अनुरूपा॥ ८॥

शब्दार्थ—**ब्राता**=(ब्रात)=समूह, समुदाय। यथा—'**समूहो निवहव्यूहसंदोहविसरव्रजाः। स्तोमौघनिकरव्रात-वारसंघातसञ्चयाः॥ ३९॥ समुदायः समुदयः।**' (अमरकोश २।६)

अर्थ—श्रीशिवजीको देखकर देवताओंकी स्त्रियाँ (देवाङ्गनाएँ) मुस्कुरा रही हैं कि (अहा! इस) वरके योग्य (तो) दुलहिनि संसारभरमें नहीं मिलेगी॥ ६॥ श्रीविष्णुभगवान् और ब्रह्माजी आदि देवताओंके समाज (अपनी-अपनी) सवारियोंपर चढ़-चढ़कर बारातमें चले॥ ७॥ देवसमाज सब प्रकार उपमारहित (अर्थात् परम सुन्दर) था। (हाँ! पर) बारात दूलहके योग्य न थी॥ ८॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—देववधुओंका मजाक देखिये। *'मुसुकाहीं' 'बर लायक दुलहिनि जग नाहीं'* और *'नहिं बरात दूलह अनुरूपा'* की चुटकियाँ गजबकी हैं। अनमिल बेजोड़पन बिलकुल साफ कर दिया है।

नोट—१ देववधूटियोंके दबी जबान मुस्कुरानेमें व्यंग्य यह है कि पार्वतीजी तो परम सुन्दर हैं पर दूलह ऐसा परम भयावन है, भला वह उनके योग्य कब हो सकता है? दूलहके स्वरूपके योग्य तो वैसे वेषवाली स्त्री हो सकती है, सो कहीं मिलनेकी नहीं। कहाँ तो अमङ्गल-वेष एवं भयंकर दूलह और कहाँ परम सुन्दर रूपवती दुलहिनि! दो अनमिल वस्तुओंका एक ठौर वर्णन होनेसे यहाँ प्रथम विषम अलंकार है।

नोट—२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ सुरत्रियोंका मुस्कराना लिखा, पर उनका कहना नहीं लिखा। (अर्थात् मन-ही-मन यह समझकर कि *'बर लायक दुलहिनि जग नाहीं'* मुस्कुरा रही हैं।) *'मुसुकाहीं'* का कारण दूसरे चरणमें देते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि *'बर लायक दुलहिनि जग नाहीं'* में भाव यह है कि इनके योग्य केवल चिद्रूपा श्रीपार्वतीजी ही हैं, जो अप्राकृत हैं, इस जगकी नहीं हैं।

नोट—३ *'बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता।……'* इति। (क) कविका सँभाल यहाँ दर्शनीय है। यदि 'बिरंचि

आदि' अथवा 'विष्णु आदि' कहते तो विष्णु या ब्रह्माकी न्यूनता पायी जाती। अर्थात् दूसरेकी सामान्यता पायी जाती, दूसरा छोटा समझा जाता। इस दोषको बचानेके लिये *'बिष्नु बिरंचि'* दोनोंको कहकर तब 'आदि' शब्द दिया। नहीं तो इनमेंसे एक जो 'आदि' शब्दके पश्चात् लिखा जाता वह अन्य देवताओंके समान समझा जाता। (पं० रा० कु०) (ख) *'सुरब्राता'* कहा क्योंकि देवताओंकी बहुत जातियाँ, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि हैं, सबके अपने-अपने अलग-अलग यूथ हैं। वही यहाँ *'सुरब्राता'* से जनाया। (ग) *'चढ़ि चढ़ि बाहन'*—विष्णु गरुड़पर, ब्रह्मा हंसपर, इन्द्र ऐरावतपर इत्यादि। 'विशेष दो० ९१ नोट—१ में देखिये।' बहुत-से विमानोंपर हैं और सब सपरिवार हैं। इसीसे सुरत्रियोंकी भी चर्चा की गयी। (घ) *'सब भाँति अनूपा'* अर्थात् रूप, भूषण, वसन, वाहन इत्यादि सब प्रकारसे परम सुन्दर हैं, कोई उपमा नहीं दी जा सकती। (ङ) *'नहिं बरात दूलह अनुरूपा'* अर्थात् जैसा दूलह है, जैसा उसका समाज है, वैसी ही बारात होनी चाहिये। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इसमें भाव यह है कि 'बारात अनुपम है, परंतु सर्पादि भूषणोंके योगसे दूलह ऐसी बारातके योग्य नहीं।'

☞यहाँतक बारातियोंके समाजका वर्णन हुआ। बारातमें कौन आगे, कौन पीछे, यह बात भी कविने अपने क्रमशः वर्णनसे जना दी है। आगे पार्षदोंसहित विष्णुभगवान् हैं, उनके पीछे ब्रह्माजी और उनके पीछे देवसमाज है।

दोहा—बिष्नु * कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज॥ ९२॥

अर्थ—तब विष्णुभगवान्ने सब दिक्पालोंको बुलाकर हँसकर ऐसा कहा—(भाई!) सब लोग अपने-अपने समाजसमेत अलग-अलग होकर चलो॥ ९२॥

नोट—१ *'बिष्नु कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।……'* इति। (क) हँसकर हास्य किया, यहाँ हँसकर कहना एक तो व्यंग्य है; यथा— *'हरि के ब्यंग बचन नहिं जाहीं।'* व्यङ्गोक्तिद्वारा यहाँ हास्यरस वर्णन किया गया। दूसरे, यह हँसना दयालुता सूचित करता है। शिवगणोंने दूलहका शृङ्गार किया और उनके हृदयमें दूलहके साथ-साथ चलनेकी रही, पर देवताओंके बीचमें उनका गुजर कैसे हो? भगवान्ने सोचा कि सबका समाज अलग-अलग हो जाय तो शिवगणोंकी भी लालसा पूरी हो जायगी। इस कारण हँसकर व्यंग्य वचन कहे। तीसरा कारण हँसकर कहनेका यह है कि जबतक इस तरह न कहेंगे, शिवजी अपनी सेनाके साथ न रहेंगे और जबतक शिवगण शिवजीके साथ न होंगे तबतक वह बारात शिवजीकी बारात न जान पड़ेगी। (ख) *'बोलि सकल दिसिराज'* इति। दसों दिक्पालोंसे कहा, शिवजीसे न कहा कि आप हमसे अलग हो जाइये, यह इसलिये कि उन्होंने सुन्दर रूप धारण नहीं किया, अतः वे अपनी अनुपम बारात अपने साथ बुलाकर कर लें, देवताओंके साथ यह रूप नहीं सोहता। (पं० रा० कु०) (ग) '**सकल दिसिराज।**' दिक्पाल दस हैं जो दसों दिशाओंका पालन करते हैं—पूर्वके इन्द्र, अग्निकोणके अग्नि (वह्नि), दक्षिणके यम, नैर्ऋत्यकोणके नैर्ऋत (सूर्य), पश्चिमके वरुण, वायव्यके पवन, उत्तरके कुबेर, ईशानके ईश (वा चन्द्र), ऊर्ध्वके ब्रह्मा और अधो दिशाके अनन्त नाग।

☞दस दिशाओंपर विशेष २८। १ भाग १ में देखिये। (घ) दस दिक्पालोंके अधिकारमें ही सब देवता हैं, अतः इन्हींको बुलाकर कहा। (ङ) *'बिलग……'* इति। 'अपना-अपना समाज अलग-अलग लेकर चलो' कथनका भाव कि जिसमें स्पष्ट प्रतीत हो कि यह अमुक दिक्पालका समाज है, अपनी-अपनी तैयारी और त्रुटिका अपनेको ही जिम्मेदार रहना चाहिये। एककी त्रुटिके सब जिम्मेदार न समझे जायँ। सबकी अलग-अलग शोभा दिखायी पड़े। शिवजी स्वयं ईशानकोणके दिक्पाल हैं, इनकी शोभा अलग रहे। (वि० त्रि०)

* पाठान्तर—'बिष्नु कहा तब बिहँसि करि'

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु* पर पुर जाई॥ १॥
बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकानें। निज निज सेन सहित बिलगानें॥ २॥
मन ही मन महेसु मुसुकाहीं। हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं॥ ३॥

शब्दार्थ—**बिलगाना**=अलग-अलग हो जाना। **बिंग्य** (व्यंग्य)—शब्दकी तीन प्रकारकी शक्तियों या वृत्तियोंमेंसे वह शक्ति या वृत्ति जिससे शब्द या शब्दसमूहके वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थसे भिन्न किसी और ही अर्थका बोध होता है। साधारण अर्थको छोड़कर कोई विशेष अर्थ प्रकट होता है 'व्यंजना शक्ति' कहलाती है। व्यञ्जनाशक्तिसे प्रकट होनेवाले विशिष्ट गुप्त अर्थको 'व्यंग्य' कहते हैं। इस तरह, व्यंग्य=वह लगती हुई बात जिसका कुछ गुप्त अर्थ हो।

अर्थ—भाई! दूलहके योग्य बारात नहीं है। पराये (दूसरेके) नगरमें जाकर हँसी कराओगे?॥ १॥ विष्णुभगवान्के वचन सुनकर देवता मुस्कुराये और अपनी-अपनी सेनाके सहित अलग-अलग हो गये॥ २॥ महादेवजी मन-ही-मन मुस्कुरा रहे हैं कि भगवान्के व्यंग्य वचन नहीं छूटते। (वा, व्यर्थ न जाने पावें)॥ ३॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—भगवान् विष्णुकी चुटकी भी मजेकी है। *'सुर मुसुकाने'* में परिहासभाव और *'मन ही मन महेसु मुसुकाहीं'* में उपहास भाव कूट-कूटकर भरा है। शिवजीका उदार उपहासभाव देखिये कि मजाककी पूर्ति स्वयं करा लेते हैं जैसा आगे प्रकट होगा।

टिप्पणी—१ *'बर अनुहारि बरात न भाई।……'* इति। (क) अनुहारि (अनुहारका स्त्रीलिङ्ग)=योग्य, अनुरूप, लायक। ऊपर कहा था कि *'सुर समाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह अनुरूपा।'* अर्थात् बारात सब भाँति सुन्दर है और वर सब भाँति असुन्दर वा कुरूप है। इसी बातको विष्णुभगवान् भी व्यंग्यसे कह रहे हैं कि *'बर अनुहारि'* बरात नहीं है अर्थात् वर तो सुन्दर है पर बारात असुन्दर है—यह व्यंग्य सुनकर देवता भी हँसे और शिवजी भी हँसे [पंजाबीजी भी ऐसा ही लिखते हैं—'काव्यमें चमत्कारको व्यंग्य कहते हैं। यहाँ इन वचनोंमें यह चमत्कार है कि कहना तो था कि बारातके अनुसार वर नहीं है और कहा यह कि वरके अनुसार बारात नहीं। पुनः कहा कि तुम्हारी हँसी होगी और (उस कथनमें) तात्पर्य यह है कि वरकी हँसी होगी।' यहाँ व्यंग्यसे जनाया कि बारात तो अनुपम है, पर वर कुरूप है।] *'भाई'* प्यार और प्रेमका सम्बोधन है। विशेष ८। १३, १३। १०, ३९। ८, भाग १ देखिये। [(ख) *'सुर मुसुकानें'* कथनसे पाया गया कि देवताओंने यह व्यंग्य समझ लिया और उसे पसंद किया। व्यंग्य दो प्रकारका होता है। एक तो विनोदका जो दिल्लगी करनेवालेका, समाजको तथा जिसके सम्बन्धसे दिल्लगी की जाय उसको भी प्रिय लगता है। यथा—*'गारीं मधुर स्वर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं। ……सुनि सचु पावहीं॥'* (१। ९९) दूसरा व्यंग्य तिरस्कारात्मक जो कम-से-कम उसको बुरा लगता है जिसके सम्बन्धमें वह बोला जाता है। (जैसे जनकपुरमें धनुर्भङ्गके पश्चात् परशुरामजीके साथ लक्ष्मणजीके वचन) भगवान् विष्णुका व्यंग्य विनोदका था। इसीसे देवता हँसे और शिवजीको भी वह व्यंग्य *'अति प्रिय'* लगा।] यहाँ 'सुरों' के सम्बन्धमें *'मुसुकानें'* कहा और शिवजीके सम्बन्धमें कहते हैं कि *'मन ही मन महेसु मुसुकाहीं।'* इस भेदमें भाव यह है कि देवता प्रकट मुसुकाये और महादेवजी मन-ही-मन मुसुकाये। अर्थात् ये मनहीमें प्रसन्न हुए और देवतालोग भगवान्का तर्क सुनकर हँसे। पुनः *'मुसुकानें'* और *'मुसुकाहीं'* से जनाया कि देवता एक ही बार सब-के-सब हँसे और शिवजी बारम्बार मुसुका रहे हैं, मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। (ग) *'हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं'* इति।—[पंजाबीजी *'नहिं जाहीं'* का अर्थ 'व्यर्थ न जावें' ऐसा करते हैं। वे लिखते हैं कि शिवजीके वचनोंका अभिप्राय यह है कि 'हरि हमारे प्यारे हैं और उनकी इच्छा हँसी करानेकी है तो हमको भी वही कर्तव्य है जिसमें वे प्रसन्न रहें।' इसमें महेशजीकी गम्भीरता दिखायी गयी है। व्यंग्यका अन्य अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि कवि आगे स्वयं कहते

* करैहहि—रा० प०। अर्थात् बारात जाकर हँसी करावेगी।

हैं कि *'अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।'* यह व्यंग्य प्रसन्नताको सूचित कर रहा है।' श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि (जब देवता अलग हो चले तब भी) 'भगवान् बारम्बार व्यंग्य वचन कह रहे हैं। इसीसे *'नहिं जाहीं'* नहीं जाते ऐसा कहा। मंद-हँसन स्वनिष्ठ उत्तम हास्य है।' पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'देवताओंने भगवान्की आज्ञाका पालन किया कि अलग-अलग हो गये और शिवजीने आज्ञावाले गणोंको बुलाया।' *'हरिके बिंग्य बचन नहिं जाहीं'* अर्थात् रहें]

अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥ ४॥
सिव अनुसासन सुनि सब आए। प्रभु पद जलज सीस तिन्ह नाए॥ ५॥
नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा॥ ६॥

शब्दार्थ—**भृंगी**—अमरकोशमें नन्दीश्वरका ही नाम 'भृङ्गी' भी कहा है, यथा—'**शृङ्गीभृङ्गीरिटिस्तुण्डी नन्दिको नन्दिकेश्वरः।**' (१। १। ४३) ये कामरूप हैं, जब जो रूप और जितने रूप चाहें बना सकते हैं। ये वाहन भी हैं और शिवजीके द्वारपाल भी। यथा—'**लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः। मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान् व्यनैषीत्॥**' (कु० सं० ३। ४१) अर्थात् शिवजीके समाधिस्थ होनेपर द्वारपर सोनेका बेत लिये हुए गणोंको अपने मुखपर अंगुली देकर इस इशारेसे उनको मना करते हैं कि यहाँ कुछ भी शब्द न करो। ये प्रमथादि गणोंके नायक हैं। शब्द-सागरमें 'भृङ्गी' को 'शिवजीका एक विशेष पार्षद' कहा है। ☞ हो सकता है कि इस नामका कोई और पार्षद हो जो साथमें चोबदारकी तरह चल रहा हो अथवा नन्दीश्वरहीके ये दोनों नाम और रूप हों। जिस समय जैसी सेवाकी आवश्यकता होती है, वैसा रूप धारण कर लेते हैं। **प्रेरि**=प्रेरणा करके।=भेजकर। यथा—*'गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन'* (७७) **अनुसासन**=आज्ञा। **टेरना**=बुलाना=ऊँचे स्वरसे पुकारना।

अर्थ—अपने प्यारेके अत्यन्त प्रिय वचन सुनते ही उन्होंने भृङ्गीको भेजकर अपने समस्त गणोंको बुला लिया॥ ४॥ शिवजीकी आज्ञा सुनकर सब आये और स्वामीके चरणकमलोंमें उन्होंने सिर नवाया (प्रणाम किया)॥ ५॥ भाँति-भाँतिके अनेक वाहन और अनेक वेषोंवाले अपने समाजको देख शिवजी खूब हँसे॥ ६॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—*'अति प्रिय'* में उपहास-भाव इतना कूट-कूटकर भरा है कि कुछ हिसाब नहीं। दोस्तकी बात (मजाक) से शिवजीको बड़ा आनन्द हुआ। 'अनमिल बेजोड़पन' के उभारनेके लिये और दूसरी ओर *'जस दूलह तसि बनी बराता'* का 'जोड़' साफ दिखा देनेके लिये यही ठीक था कि सब शिवसमाज एक साथ हो जाय।

नोट—१ *'भृंगिहि प्रेरि······'* इति। भृङ्गीको प्रेरित किया। उन्होंने समस्त गणोंको उच्च स्वरसे आवाज देकर बुलाया। चाहे वह कोई दूसरा गण हो और चाहे नन्दीश्वरके ये दोनों रूप हों। एक रूपसे वाहन बने हैं, दूसरे रूपसे सेवक भृङ्गी। *'अनुसासन सुनि'* से जनाया कि सबको शिवजीकी आज्ञा उन्होंने सुनायी। कोई-कोई 'भृङ्गी' का अर्थ 'बिगुल' करते हैं, पर *'अनुसासन सुनि'* से भृङ्गीगण ही अर्थ होना ठीक है।

नोट—२ *'सिव अनुसासन सुनि सब आए।······'* इति। आज्ञा सुनकर सब आये। भाव कि मङ्गलका समय है, उसमें अपनी कुरूपता (अमङ्गलरूप) समझकर न आते, पर भृङ्गीद्वारा शिवजीकी आज्ञा पाकर आये। *'प्रभु पद जलज सीस तिन्ह नाए'* इससे उनकी स्वामिभक्ति और जानकारी जनायी। ये गण कौन हैं, यह कवि आगे स्वयं लिखते हैं। (पं० रा० कु०) ३—*'नाना बाहन नाना बेषा।······'* इति। प्रथम मनमें हँसे थे, अब खिलखिलाकर वा प्रकट हँसे। एक कारण इसका यह भी है कि पहले अपने मित्रों और छोटोंमें थे। दूलहरूपसे उनके सामने जोरसे हँसना अयोग्य समझा, अब अपनी जमातमें हैं इससे खूब हँसे। शिवजीकी हँसीमें भगवान्की व्यंग्योक्तिका उत्तर व्यंजित होता है। वे यहाँ हँसकर उत्तरमें जनाते हैं कि अब तो बारात वरके योग्य हो गयी न? अब तो *'पर पुर'* में हँसी न होगी? श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि यह परनिष्ठ मध्यम हास्य है।